रचयिता-परिचय-कण

जन्मतिथि : ६ अगस्त, १९१५
माता का नाम : स्व० श्रीमती रामराजी पाण्डेय
पिता का नाम :
स्व० पं गोपालजी पाण्डेय
बालविवाहिता :
स्व० श्रीमती रोशनी पाण्डेय
युवापरिणीता :
स्व० श्रीमती चन्द्रावती पाण्डेय
जन्मस्थान : शाहदुरपट्टी, जिला-भोजपुर (बिहार)

१. स्वाधीनता संग्राम में : १९३० एवं १९४२ ई०, अन्ततः कारावास, पेन्शन-परित्याग।
२. व्यवसाय : पत्रकारिता प्रधान सम्पादक, दैनिक 'नवराष्ट्र', सैनिक विश्वामित्र'; साप्ताहिक 'अग्रदूत'; 'स्वदेश', 'नवीन बिहार', 'बिहार-जीवन'; मासिक 'पाटल' एवं 'बालक'।
३. व्यवसायक्रम में कार्यक्षेत्र : कलकत्ता, काशी, कानपुर, पटना, भागलपुर।
४ उच्चतम सम्मानोपाधि : साहित्यवाचस्पति', हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग की उच्चतम समानोपाधि।
५. उच्चतम गैर सरकारी पद : अध्यक्ष, बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन (तीन बार); अध्यक्ष, बैग प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन; वरिष्ठ उपाध्यक्ष, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग।
६. उच्चतम सरकारी पद : बिहार-सरकार की हिन्दी-समिति के द्वितीय (अन्तिम) अध्यक्ष। प्रथम अध्यक्ष थे डॉ० लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'। प्रथम पूर्णकालिक अध्यक्ष : बिहार-सरकार की हिन्दी-प्रगति-समिति। प्रथम अध्यक्ष : हिन्दी विधायी उप समिति।
७. बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् के प्रति बिहार-सरकार की उपेक्षानीति के विरोध में एकमात्र पदत्यागी निदेशक।
८. प्रकाशित काव्यकृतियाँ : १. 'गणदेवता' (संग्रह), २. 'अशोक' (प्रबन्ध-काव्य), ३. 'शक्तिमयी' (काव्यचयनिका), ४. 'राष्ट्रव्यंजना' (काव्यचयनिका), ५. 'युगान्तर' (महाकाव्य), ६. 'लोकायन' (महाकाव्य), ७. 'युवाज्योति' (युवाशक्ति काव्य, ६ सर्ग), ८. 'नवोदय' (बालक-बालिकाओं के सन्दर्भ में ७ सर्ग), ९. 'मन्वन्तर' (महाकाव्य)।
९. प्रकाश्य : १०. 'अमृत' (प्रयोगात्मक प्रबन्ध–काव्य), ११. 'राष्ट्रवीर' (महाकाव्य), १२. 'कर्मोपनिषद्' (प्रबन्ध-कविता), १३. 'पंचतत्त्व' (प्रबन्ध-कविता), १४. 'विप्लव' (प्रबन्ध-कविता), १५. 'अनेक कविता-संकलन।

पता : 'देवगीत', आशियानानगर, पटना - ८०० ०१४ (बिहार)

मन्वन्तर
(महाकाव्य)
रामदयाल पाण्डेय

मन्वन्तर

(महाकाव्य)

रामदयाल पाण्डेय

'मन्वन्तर'

महाकाव्य

: रचयिता :

रामदयाल पाण्डेय

: प्रकाशक :

देवगीत प्रकाशन

'देवगीत', आशियाना नगर

पटना - ८०० ०१४

प्रकाशक :
'देवगीत' प्रकाशन
'देवगीत', आशियाना नगर,
पटना - ८०० ०१४

प्रथम संस्करण : १९९३ ई०

मूल्य : डेढ़ सौ रुपये

मुद्रक :
मनीष ऑफसेट
४/५७, राजेन्द्र नगर,
पटना - ८०० ०१६

स्मृति-तर्पण

आजीवन तपस्यामयी माँ
स्व० श्रीमती रामराजी देवी

का

सभक्ति
रामदयाल पाण्डेय
द्वारा

समर्पण

धर्मपिता-भक्त धर्मात्मज तथा ज्येष्ठ जामाता,

यांत्रिक अभियन्ता

चि० श्री देवेन्द्रनाथ पाठक

और

मातामह–भक्तिमयी दौहित्री

सद्‌गुण–सम्पन्ना एवं मेधाविनी

आयु० तूलिका कुमारी

को

स्नेहाशीषपूर्वक

—रामदयाल पाण्डेय

चिन्तन-मनन

शरीर तथा स्वास्थ्य की सर्वथा विवश एवं विषम स्थिति में ये पंक्तियाँ लिखनी पड़ रही हैं क्योंकि इस महाकाव्य को मुद्रणार्थ देने हेतु ऐसा करना अनिवार्य था। अतएव एक व्यापक विषय को उपयुक्त कलेवर न देकर अत्यन्त सूक्ष्म कलेवर में सीमित करने की विवशता है। इस विषय-संकोच हेतु निवेदक क्षमाप्रार्थी है।

यहाँ 'मन्वन्तर' शब्द का प्रयोग पारम्परिक अर्थ में नहीं किया गया है। वस्तुतः यह शब्द-प्रयोग भी प्रयोगात्मक ही है। यों इस महाकाव्य को 'प्रयोगात्मक' विशेषण नहीं दिया गया है। प्रायः 'लोकायन' (महाकाव्य) के विद्वान् समीक्षकों का यह मत था कि महाकाव्य की यह अभिनव विधा मेरे द्वारा संस्थापित हो गई है। यों भी विचार-महाकाव्य अथवा चिन्तन-महाकाव्य को समीक्षा-जगत् ने अतीत में मान्यता दे दी थी। अतएव 'मन्वन्तर' के लिए निःसंकोच भाव से महाकाव्य का अभिधान दिया जा रहा है। आशा है, प्रयोगात्मक तथा अप्रयोगात्मक के विभेद में न पड़कर समीक्षक हिन्दी–संसार इसका अवलोकन करेगा और विषय-वस्तु एवं प्रस्तुति पर, पूर्वाग्रहमुक्त होकर, विचार व्यक्त करेगा।

यह निवेदन करते हुए मैं 'मन्वन्तर' के प्रथम सर्ग की प्रारम्भिक पंक्तियाँ उद्घृत करना आवश्यक मानता हूँ।

एतदनुसार ये पंक्तियाँ निवेदित हैं–

'जो मनन समर्पित हो करता
समता-दायक, वह मनु होता;
जिस भाँति समर्पित कृषक सदा
समता से बीजों को बोता।'

दर्शन एवं संस्कृति के कालप्रवाह में परिवर्तन का आना और परिवर्तन के कारण सामाजिक समतल का विषम हो जाना स्वाभाविक है। जलप्रवाह एवं झंझावात के कारण सम भूमि स्वभावतः कुछ-न-कुछ विषम हो जाती है। अतएव युग-चिन्तकों को सामाजिक समतलता के पुनस्संस्थापन हेतु चिन्तन करना ही पड़ता है और अभियंताओं को भूमि की समतलता हेतु पुनः प्रयास करना पड़ता है। यदा-कदा तो इस प्रयास को अभियान का भी रूप देना पड़ता है।

हम देख ही रहे हैं कि वर्त्तमान काल में क्षेत्र-भेद के कारण समाज तथा राष्ट्र में विषम स्थिति उत्पन्न होती रहती है। इसी भाँति विश्व में भी क्षेत्र-भेदभाव की दुर्नीति के कारण वैषम्य, कलह और टकराव उत्पन्न होते रहते हैं। यदा-कदा यह स्थिति युद्ध की विभीषका झेलने के लिए भी मानव-समाज को विवश कर देती है। इसी परिप्रेक्ष्य में 'मन्वन्तर' के प्रथम सर्ग को 'क्षेत्रभेदान्त' का शीर्षक प्रदान किया गया है। उपर्युक्त उद्धरण के पश्चात्

अनुगामिनी पंक्तियाँ इस प्रकार हैं–

'चिन्तन वैषम्य-विभेदजनक
क्या हो सकता सम्यक् चिन्तन ?
कोई विभेद की व्यथा सहे;
कुछ को ही दे जीवन-साधन ?'

अम्बुधि-हिमाद्रि में जो विभेद,
वह प्रकृतिदत्त, भौगोलिक है;
मानव आते जग में समता
से, भेद न कोई मौलिक है।

मानव भी जो रचते विभेद,
वह भी क्या होता है शाश्वत ?
करते सुधार समतानुसार
तो जीवनमय होता है पथ।

जाने कितने मनु आये हैं,
मन्वन्तर कितने हुए यहाँ;
परिवर्तित हुईं व्यवस्थाएँ,
शाश्वत जीवन पा सकीं कहाँ ?

क्या कभी देश में सीमित हों ?
चिन्तन सर्वत्र चले व्यापक;
सीधे-सपाट पथ कभी चले;
तो कभी चले पथ पर तिर्यक्।

चल सका नहीं है देश-भेद;
भाषा-विभेद भी चला नहीं,
समतामय हृदय मनुज के हैं,
रहती विभेद में कला नहीं।

होती रहती नव सृष्टि सतत;
होते रहते हैं नये प्रलय;
पर एक वस्तु होती शाश्वत;
पशुता पर मानवता की जय।

मानवता हो तो मानव है;
पशुता हो तो क्या है मानव ?
एकता और समता से ही,
रक्षित रहता मानव-गौरव।

भवनों में ही आया विभेद;
था शिलान्यास में भेद नहीं;
समता के फल थे लगे जहाँ,
क्रमशः मानव जा सका वहीं।'

एकत्व एवं समत्व की ओर दिशा-निर्देश हेतु ये पंक्तियाँ उद्धृत करने की विवशता थी, क्योंकि इस उद्धरण के अन्त में ही 'एकत्व' और 'समता' का प्रयोग

हुआ है। विभेद पर इन्हें संस्थापित करने हेतु उद्धरण को यहाँ तक लाना आवश्यक प्रतीत हुआ। वस्तुतः विभेद में ही उसका अन्त निहित रहता है। इसी प्रकार प्रत्येक रूढ़िवाद में उसका अन्त निहित है। भारतीय जीवनदृष्टि मूलतः समता एवं एकता की ही दृष्टि है। भेद एवं वर्गीकरण भी एकता-स्थापन के ही विविध आयाम हैं।

'मन्वन्तर' नामकरण किसी रूढ़िवादी नाम को ग्रहण करने का प्रयास नहीं है। यह तो रूढ़िवाद से रचयिता के पृथक् अस्तित्व का ही सूचक है। रचयिता स्वप्न में भी स्वयं को अभिनव मनु कहलाने योग्य नहीं मानता, किन्तु यहाँ यह स्थापना प्रस्तुत की गई है कि चिन्तन-मनन न तो युगविशेष के आगमन की प्रतीक्षा करते हैं और न किसी व्यक्तिविशेष में सीमित रहते हैं। मानव-समाज के विविध विभेदों का अन्त न केवल अपेक्षित है प्रत्युत उसे होना ही है। मानव-समाज़ की चिन्तन-मनन-धारा तभी अभिधान की अधिकारिणी है जब उसका प्रवाह सतत चलता ही रहता है। वह कहीं भी और कभी भी अवरुद्ध नहीं होता।

अतः क्षेत्र-भेदान्त के अतिरिक्त जातिभेदान्त, सम्प्रदाय-भेदान्त, वर्गभेदान्त, एकदेशीय शासन का अन्त और विश्वशासन की संचेतना, संस्कृति-रूपान्तर, प्रकृति-रूपान्तर, नवाध्यात्म, नवजीवन-दर्शन, नवसमाज और नवविकास को आना ही है। काल की शक्ति भी

इसे विजित अथवा बाधित नहीं कर सकती। हाँ, एददर्थ समय अवश्यअपेक्षित एवं प्रतीक्षित रहेगा। परन्तु यह प्रगतिधारा तो अनिवार्य है। विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि का प्राकृतिक प्रगति-प्रवाह इन समस्त विभेदों का अन्त अवश्य करेगा और एकता, समता एवं भेदमुक्तता का त्रिवेणी-संगम क्रमशः होकर रहेगा। मानव में भी मानवत्व क्रमशः आता और बढ़ता रहेगा। वस्तुतः मानवत्व से ही मानव मूलतः परिभाषित होता है।

भेद में ही उसका अन्त निहित रहता है। भेद का आना भी स्वाभाविक था और उसका जाना भी स्वाभाविक है। विषमता का अन्त भी स्वाभाविक है। उसके स्थान पर समता का आना भी अस्वाभाविक नहीं। जल जीवन के पर्याय के रूप में मान्य है। उसमें भी विषमतलता आती रहती है परन्तु उसमें त्वरित समतलता स्वतः आ जाती है। यों समस्त प्रकृति में भी विषमता आती और जाती रहती है। किन्तु प्रकृति की कतिपय विषमताओं का अन्त मानव को स्वयं करना पड़ता है। पर्वत में भूस्खलन से विषमता आती है तो मानव को उस विषमता का अन्त करना पड़ता है; अपने ही हित में करना पड़ता है। मानव की एकता एवं समता शाश्वत है; शाश्वत, जो अन्ततः असमाप्य होता है।

चिन्तन-मनन की स्वतंत्रता जन्मजात है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रतिबन्धित होती रहती है, परन्तु चिन्तन-मनन

की स्वतंत्रता न तो कभी प्रतिबन्धित हुई और न होगी। इस शाश्वत स्वतंत्रता में ही मनुत्व निहित है। मनु को किसी वास्तविक अथवा काल्पनिक व्यक्तिविशेष तक सीमित भले ही माना जाये किन्तु मनुत्व कभी सीमित नहीं हुआ और न होगा। यह मनुत्व ही काल-चिन्तन से अथवा युगोचित चिन्तन-मनन से अभिनव मन्वन्तर लाता रहता है। इस मन्वन्तर से ही युग-युग मानव आह्वान करता है–'उत्तिष्ठत, जाग्रत आदि। यह मनुत्व ही बुद्ध, कबीर, तुलसीदास, विवेकानन्द और गाँधी ला सका है। मार्क्स भी यही लाया। यही लाया वेण्डेल विल्की को भी, जिसने विश्वशासन की परिकल्पना प्रदान की। अध्यात्म, अर्थव्यवस्था, शासन, विज्ञान, साहित्य, कलाजगत् आदि में यह मनुत्व परिवर्तन लाता रहा है और लाता रहेगा। बाधित होने में न तो धारा का अस्तित्व रहता है और न जीवन का। बाधा का अस्तित्वान्त भी स्वाभाविक है। इस अबाधित जीवन की दिशा में यह 'मन्वन्तर' काव्य इंगित मात्र है। इंगितों से भी तो दिशाबोध होता ही है। असंख्य नक्षत्र नहीं अपितु एक ध्रुवतारा ही दिशाबोध प्रदान करता है।

इस कृति की प्रगति में साहित्य-सर्जक श्री प्रेमकुमार पाठक की नियमित दैनिक उपस्थिति का विशिष्ट योगदानावदान है। तथैव इसकी पाण्डुलिपि मुद्रण हेतु प्रस्तुत करने में अवदान है चि० व्रजविहारी पाण्डेय,

एम० ए० का। मेरे लिए तो पाण्डुलिपि-प्रस्तुति सम्भव न थी। धन्यवाद' शब्द इनकी सेवा के महत्त्व को व्यक्त नहीं कर सकता।

अद्वितीय देवोपम जामाता चि० देवेन्द्रनाथ पाठक तथैव अनुपम आत्मजा सौ० श्रीमती गीतारानी पाठक, अद्वितीय दौहित्र डा० कुमार आलोक पाठक, अनुपम दौहित्री कुमारी तूलिका सहित इस कृति से सम्बद्ध समस्त उल्लिखित, अलिखित व्यक्तित्वों को मेरे शत-शत स्नेहाशीष। हाँ, मैं मुद्रक की तत्परता हेतु भी सदा आभारी रहूँगा।

–रामदयाल पाण्डेय
'देवगीत,' आशियाना नगर,
पटना–८०००१४

सर्गानुक्रम

सर्गसंख्या	सर्गशीर्षक	पृष्ठ
१. प्रथम सर्ग	क्षेत्रभेदान्त	१७
२. द्वितीय सर्ग	जातिभेदान्त	३३
३. तृतीय सर्ग	सम्प्रदायभेदान्त	४५
४. चतुर्थ सर्ग	वर्गभेदान्त	५७
५. पंचम सर्ग	विश्वशासन	७३
६. षष्ठ सर्ग	संस्कृति-रूपान्तर	८१
७. सप्तम सर्ग	प्रकृति-रूपान्तर	१०९
८. अष्टम सर्ग	नवाध्यात्म	१२३
९. नवम सर्ग	नवजीवन-दर्शन	१३७
१०. दशम सर्ग	नवसमाज	१५३
११. एकादश सर्ग	नवविकास	१६९

मन्वन्तर

प्रथम सर्ग

क्षेयभेदान्त

जो मनन समर्पित हो करता
समतादायक, वह मनु होता;
जिस भाँति समर्पित कृषक सदा
समता से बीजों को बोता।

चिन्तन वैषम्य– विभेदजनक
क्या हो सकता सम्यक् चिन्तन ?
कोई विभेद की व्यथा सहे,
कुछ को ही दे जीवन-साधन ?

अम्बुधि-हिमाद्रि में जो विभेद,
वह प्रकृतिदत्त, भौगोलि[illegible] है;
मानव आ[illegible] जग में समता से,
[illegible] मौलिक है।

मानव भी जो रचते विभेद,
वह भी क्या होता है शाश्वत?
करते सुधार समयानुसार,
तो जीवनमय होता है पथ।

जाने कितने मनु आये हैं;
मन्वन्तर कितने हुए यहाँ;
परिवर्तित हुईं व्यवस्थाएँ;
शाश्वत जीवन पा सकीं कहाँ?

क्या कभी देश में सीमित हों?
चिन्तन सर्वदा चले व्यापक।
सीधे-सपाट पथ कभी चले,
तो कभी लिया था पथ तिर्यक्।

चल सका नहीं है देश-भेद;
भाषा-विभेद भी चला नहीं;
समतामय हृदय मनुज के हैं;
रहती विभेद में कला नहीं।

होती रहती नव सृष्टि सतत,
होते रहते हैं नये प्रलय;
पर एक वस्तु होती शाश्वत;
पशुता पर मानवता की जय।

मानवता हो तो मानव है;
पशुता हो तो क्या है मानव?
एकत्व और समता से ही
रक्षित रहता मानव-गौरव।

भवनों में ही आया विभेद,
था शिलान्यास में भेद नहीं;
समता के फल थे लगे जहाँ,
क्रमशः मनुष्य है गया वहीं।

परिवर्तित होते रहे रूप;
इस भाँति रहे हैं दिशा–काल;
क्रमशः क्रमशः ही बढ़ा सतत
मानव-समता का भव्य भाल।

समयानुसार वैषम्य चला
समयानुसार आई समता;
क्रमशः ही तो चल सकती थी
मानव-विकास की गुणवत्ता।

ऋतुपरिवर्तन से भी विशेष
गति से विचार बदले नर के;
प्रतिपल सुधार, परिवर्तन-क्रम
से वाहन चले युगान्तर के।

अनुभव सिखलाता था सुधार;
जीवन था बढ़ा प्रयोगों से;
क्या सदा यथास्थिति में रहकर
लड़ सका मनुज है रोगों से?

रूढ़ियाँ मरण ही लाती थीं;
उपजीं व्याधियाँ यथास्थिति से;
क्रमशः लड़ता ही आया है
मानव त्रिक्काल-परिस्थिति से।

आते ही रहे रोग अभिनव;
औषधियाँ भी खोजीं नूतन;
क्या कभी रूद्ध पथ से चलकर
आ सका यहाँ तक है जीवन?

अणु कभी कहाँ रहते निष्क्रिय?
गतिमान और सक्रिय रहते;
घटिका में अंकित पल-अनुपल
परिवर्तन-प्रगति सतत कहते।

यदि रहे शिशिर सर्वदा जमा
तो नववसन्त क्या आ सकता?
रट रहे पपीहे की ही तो
कोकिल कैसे है गा सकता?

चाहिए ग्रीष्म भी सीमा में,
सम्यक् पावस जो ला पाये;
अभिनव गर्जन-वर्षण से ही
सार्थक होते हैं घन छाये।

यदि स्वाभाविक था कृष्ण-पक्ष,
तो शुक्ल पक्ष भी स्वाभाविक;
आन्तरिक सुधार चले अविरत;
वे रहे नहीं केवल भौतिक।

छन्दों के रूप नहीं सीमित;
मानव ने अभिनव छन्द रचे;
क्या परिवर्तन-सुधार से हैं
जग में कविता के छन्द बचे?

यदि कतिपय कवि कर सके नहीं,
कविता की नहीं विफलता है;
हों सत्यं-शिवं-सुदरम् यदि,
कविता की मूल सफलता है।

सत् भावों के ही संग बिम्ब
सम्यक् दे पाती है कविता;
चन्द्रिका न हो तो क्या शशि है?
यदि रश्मि न हो, क्या है सविता?

सत् रहे भाव, शुभ दर्शन हो,
सन्निहित सदा मानवता हो;
इतना भी है पर्याप्त, काव्य
को मिल जाती सार्थकता हो।

वाहनाभाव में जन-समूह
था चरणों से ही चल पाता;
तो बने ग्राम, अंचल, जनपद,
नगरों का बना सुनिर्माता।

विस्तार-कामना से मानव
मत्स्यों की भाँति तरण करने
जब लगा, नहीं नद अवरोधक
रह सके, लगा नर गति भरने।

भूतल-वाहन, जल-वाहन भी
क्रमशः मानव ने किये सृजित;
इस भाँति लगा जनगण व्यापक-
तर जनगण से होने परिचित।

अंचल-जनपद मिल बने क्षेत्र,
उनके भी क्षेत्रभेद निर्मित;
क्रमशः बन गई भेद-संख्या,
भेदों में मनुज हुआ सीमित।

क्षेत्रों का संगम बना देश
तो लगा कि यह एकत्व हुआ;
सीमा हो गई सुविस्तृत कुछ,
कुछ सुलभ बृहत्तर तत्त्व हुआ।

मानव को लगा कि वह चलते-
चलते सुदूर तक आया है;
क्षेत्रों को मिला सका है वह;
उसने विस्तृत पथ पाया है।

पर क्षेत्र गये क्या बढ़ते ही?
क्या वे केवल मिल पाये हैं?
क्या सीमा से होकर विमुक्त
वे दूर यहाँ तक आये हैं?

हो सके क्षेत्र क्या भेदमुक्त?
क्या क्षेत्र-भेद का अन्त हुआ?
दिक् तक ही सीमित रहा मनुज
तो सम्भव कहाँ दिगन्त हुआ?

पर क्षेत्र जहाँ हो गये रूढ़,
गति स्वभावतः अवरुद्ध रही;
स्वार्थों की टक्कर हुई, हृदय-
भावना नहीं परिशुद्ध रही।

सिद्धान्त और मनुजत्व-मूल्य
तो, वांछनीय है, रूढ़ रहें;
उनका उल्लंघन कभी न हो;
उनके हित सारे दुःख सहें।

संस्था भी भला रूढ़ क्यों हो ?
उसका होना भी ध्येय न हो;
हो ध्येय सदा सैद्धान्तिक ही;
संस्था में कुछ अज्ञेय न हो

यह निर्विवाद है, व्यक्तिस्वत्व
से ऊपर संस्था होती है;
उससे ऊपर सिद्धान्त सदा;
संस्था बिसार विष बोती है।

इसमें सन्देह कहाँ रहता ?
लाया भविष्य है रंग नये;
थे युग अतीत के इसी भाँति
हैं वर्त्तमान भी बीत गये।

हैं नहीं क्षेत्र होते शाश्वत,
आगे भी होंगे कभी नहीं;
भेदान्त क्षेत्र का होता है,
गति का रथ क्या है रुका कहीं ?

…ापकता को आना ही है;
…न्देह नहीं, वह आयेगी;
…ानवता क्रमशः इसी भाँति
एकता-पन्थ पर जायेगी।

हैं इसी भाँति बन सके राष्ट्र,
वे क्रमशः बनते जायेंगे;
देशों के और महादेशों
के घेरे बाँध न पायेंगे।

साम्राज्यवाद को मिटना है;
प्रारम्भ क्षेत्र-भेदान्त करे;
करना ही है इसको अवश्य;
जायेगा मानव बहुत परे।

क्या किसी क्षेत्र पर अन्य क्षेत्र
का स्वत्व रहे, स्वामित्व रहे ?
क्या क्षेत्रभेद का ? द्वेष घृणा
का अतिघातक अस्तित्व रहे ?

इसमें कोई सन्देह नहीं
है, यह विभेद होगा समाप्त;
होगा वैषम्य नहीं उनमें,
कर लेंगे समता पूर्ण प्राप्त।

पानी के समतल के समान
होगा क्षेत्रों का समविकास;
टकराव नहीं सम्भव होगा;
होनी है समता अप्रयास।

क्यों क्षेत्रभेद हो देशों का?
क्यों भेदग्रस्त हों महादेश;
क्यों हो वैषम्य कभी इनमें?
दे रही विषमता घोर क्लेश।

चाहिए क्षेत्र-भेदान्त शीघ्र;
पर कुछ तो समय लगेगा ही;
सहयोग परस्पर होगा ही,
समता का भाव जगेगा ही।

पथ पर होता यदि जल-जमाव
तो पथ पंकिल हो जाता है;
यदि जल प्रवाहमय रहता है
तो पंक नहीं जम पाता है।

नद का प्रवाह समतलमय हो;
नौकायन होता सुविधामय;
वैषम्य-अन्त है समय-साध्य;
विषमत्व सदा होता दुर्जय।

पर यह दुर्जय ही होता है;
होता है कभी अजेय नहीं;
इसको समाप्त कर देने को
कुछ भी है कभी अदेय नहीं।

पल्लव झड़ने लगते हैं तो
पतझर पूरा हो ही जाता;
आता वसन्त, पूछता नहीं,
गाता पिक या कि नहीं गाता।

कालप्रवाह होता अदम्य
वह अविरत चलता रहता है;
पूछता कहाँ किससे है वह,
जग में कोई क्या कहता है?

रुकता वसन्त क्या पत्तों से?
पाता न रोक हिमपात उसे;
है कहाँ रोक पाया पथ में
दुर्दमतम झंझावात उसे?

मानव में पौरुष भले न हो;
होता पौरुषमय सदा काल;
भूकम्पी विभीषिकाओं से
झुकता क्या उसका उच्च भाल?

देते हैं प्रज्ञा- पुरुष उसे
निज गति से नवयौवन-सम्बल;
जैसे करता है हिम-प्रवाह
गिरि के तन को भी दुग्धधवल।

जैसे विभेद क्रमशः मिटते,
मिट जायेगा ही क्षेत्र-भेद;
करता ही जायेगा मानव
इसको समाप्त अविरत-अखेद।

मिटते विभेद हैं मानव के
जो रहते हैं अन्तस्तल में;
तो क्या रहनेवाले हैं वे,
जो होते हैं वहिरंचल में?

क्यों क्षेत्र-भेद के प्रति जनगण
के हृदयों में व्यामोह रहे?
इसके चलते क्यों क्षेत्रों में
पारस्परिक घृणा या द्रोह रहे?

हैं क्षेत्र नहीं करते विवाद;
करते विवाद मानव ही हैं,
चिर भेद-कलह के माध्यम से
हो जाते जीवित शव ही हैं।

जीवित शव ही क्यों ? वे मानव
से हो जाते बिल्कुल पशुवत्;
क्या तन से ? नहीं, गुणों से ही
आती है मानवता शाश्वत।

यदि क्षेत्र परस्पर सदा रहें
एकात्म और अविभाज्यहृदय,
क्यों रहें परस्पर कलह-निरत ?
क्यों हों संशयमय या कि सभय ?

यह निश्चित है कि क्षेत्र सारे
भेदों का अन्त करेंगे ही;
रहकर सहयोगी आपस में,
मानवता-कलश भरेंगे ही।

चाहता नहीं कहना विशेष,
स्वविवेक मनुज को पथ देगा;
मानव तो बिना कहे कुछ भी
क्षेत्रों के भेद मिटा लेगा।

द्वितीय सर्ग

जातिभेदान्त

वर्ण तो थे चार ही, पर जातियाँ अगणित हुईं;
इस वृद्धि पर अगणित व्यथाएँ भी नहीं क्या स्थित हुईं ?
भीषण असुविधाएँ हुईं, पर, मनुज सहते जा रहे;
अति दुःख है, इस व्याधि से हैं रक्त-नद कितने बहे।

कितने हताहत नर हुए, दिन में जलाये घर गये,
प्रत्येक दिन हैं हो रहे उत्पन्न कलहानल नये।
अस्मत लुटी, हैं नारियाँ काटी गई बच्चे कटे;
इस कारुणिक अध्याय से हैं हृदय कवियों के फटे।

यह आग बढ़ती जा रही अनवरत, हिंसा बढ़ रही;
अपराध, पाप, अमानुषिकता है नहीं जाती सही।
यह तंत्र है अपराध का, है लोकतंत्र कदापि क्या?
यह दुर्दशा है बढ़ रही, चेतें न मनुज तथापि क्या?

यह क्या न घोर असभ्यता? क्या निपट बर्बरता नहीं?
मिलकर सभी जन रोक दें, दिखती कहीं क्षमता नहीं।
क्या मूल्य मानव के यहाँ होंगे अरक्षित सर्वथा?
यदि अनल यह रोकें नहीं तो क्या रुकेगी यह व्यथा?

क्या जाति के आधार पर जनतंत्र है संभव कभी?
क्या जातितंत्र अमानुषिक देगा हमें गौरव कभी?
क्या जातिवादी मार्ग ही सब लोग अपनाने लगें?
जातीयता-दुर्भावना-कुविचार क्या मन में जगें?

ज्यों स्वार्थपरता से सदा बढ़ती रही संकीर्णता,
त्यों शुद्ध भाव-विचार को देगी मिटा जातीयता।
यदि जाति आवश्यक लगे तो हो स्वजाति-समाज में।
क्या सुख सभी को मिल सकेगा जातिवादी राज में?

थे वर्ण निर्धारित हुए, बस, कर्म के आधार पर;
वह प्रेम के आधार पर था एकता का यत्न भर।
उसमें घृणा-विद्वेष का था भाव कोई भी नहीं;
जो स्थान था आरम्भ में, रखते उसे सीमित वहीं।

यह जातिभेद बना विषम है वर्ण का पथ छोड़कर;
हमने किया निर्मित इसे एकत्व का बल तोड़कर।
एकत्व के बदले विभाजन-उपविभाजन हैं अमित;
संख्या कठिन है जानना, जन हो गये अतिशय व्यथित।

जब दासता-तम-काल था, हम और भी खण्डित हुए;
क्रमशः बड़ी संख्या हुई तो हम अतीव व्यथित हुए।
हमको बताया यह गया, सुख का यही तो पन्थ है;
संकीर्णता में सुख निहित; उसका न मार्ग दिगन्त है।

विस्तार को, औदार्य को क्षति-पन्थ बतलाया गया;
अविरत विभाजन का हमें था मंत्र सिखलाया गया
वह मंत्र क्या? था यंत्र क्या? वह तो महाषड्यंत्र था;
वह दासता का दौर था; वह वैरवर्धक तंत्र था।

ज्यों व्याधि बढ़ने से कभी आरोग्य है बढ़ता नहीं;
त्यों ही विभाजन-वृद्धि से नर उच्चतर चढ़ता नहीं।
भारत-विभाजन से अमित कठिनाइयाँ ही तो बढ़ीं;
उन्नति-लताएँ क्या हमारे देश की ऊपर चढ़ीं?

सच है कि सीमित क्षेत्र में बढ़ती नहीं है योग्यता,
प्रतियोगिता बढ़ती नहीं तो क्या बढ़ेगी अर्हता?
प्रतिभा कभी बढ़ती नहीं यदि हो नहीं प्रतियोगिता;
चिर योग्यता के क्षेत्र में ही चाहिए प्रतिद्वंद्विता।

यदि भूमि हो सीमित, मनुज क्या वायुयान् उतारता?
विस्तृत रहे अम्बर नहीं तो क्या विहग पर मारता?
भारत जभी खण्डित हुआ तो राष्ट्र-बल खण्डित हुआ,
जातीयता से क्या कभी नर शक्ति से मण्डित हुआ?

बढ़ती रहे यदि व्याधि तो जनहित कभी संभव नहीं
विघटन-विभाजन में निहित रहता कभी वैभव नहीं।
पर यह सुनिश्चित है, सदा पीड़ा नहीं होगी सहन;
जो बन्द हैं इस काल में, कल तो खुलेंगे ही नयन।

अनुभव बतायेगा कि जड़ जातीयता अभिशाप है,
इसमें निहित कुल जातियों का ही गहन सन्ताप है।
उद्धार के हित चाहिए औदार्य का वातावरण;
हों जातिमुक्त विचार, ऐसे ही रहें कुल आचरण।

हो नाम कोई जाति का, पर, क्या विषमता चाहिए?
सबको सुलभ साधन उचित हों, व्याप्त समता चाहिए।
थे वर्ण वे क्या विषमता हिंसा-घृणा के आग्रही?
संख्या सिखाती प्रेम थी, जो चार तक सीमित रही।

थे स्तम्भवत् वे चार पूरे मानवीय समाज के,
उस समय जन ऐसे न थे जैसे हुए हैं आज के।
सहयोग की, सौहार्द की धारा बहानी चाहिए;
जो खो गई राष्ट्रीयता, वह पुनः लानी चाहिए।

जो कह गये हैं पुत्र त्रिशला के, नहीं वह व्यर्थ है;
हाँ, बुद्ध का भी तो तथावत् सुलभ हमको अर्थ है।
वह एकता-समता हमें फिर से जगानी चाहिए;
जो ज्योति हम हैं खो चुके, वह पुनः लानी चाहिए।

हम ला सकें अथवा नहीं, पर हमें लानी चाहिए;
जो सो गई है चेतना वह फिर जगानी चाहिए।
वह पुनः आयेगी; नहीं इसमें बहुत सन्देह है;
जल सूख जाता है कभी, क्या सूखता जन-स्नेह है?

जैसे निशा-अवसान पर आता नया दिनमान है;
जैसे दिवस के अन्त में गाता विहंगम गान है;
वैसे मनुज है ऊब जाता जब किसी भी भूल से;
तो वह मिटा देता तुरत उस भूल को जड़-मूल से।

इस भाँति वह देगा मिटा, ध्रुव है कि जातिविभेद को;
श्रम भी लगेगा तो करेगा सार्थ अपने स्वेद को।
यों स्वेद है बहना नहीं, इसमें बहाना क्या रुधिर?
जो है समाज घृणित बना, उसको करेगा शुचि-रुचिर।

इतिहास कहता है; नहीं यह कल्पना की बात है;
जन बार अगणित कर चुके, जैसे निशा पर प्रात है।
यदि चूक हो जाती कभी, करते अवश्य सुधार हैं;
यदि वे नहीं करते कभी, मिलते उन्हें धिक्कार हैं।

सर्वत्र है ऐसा हुआ, केवल नहीं इस देश में;
क्या चाहते रहना मनुज घातक व्यवस्था-क्लेश में?
बीतें अनेक शताब्दियाँ तो भी अवश्य सुधारते;
क्या हैं किसी के सामने वे त्राहि-त्राहि पुकारते?

जो मनुज के पुरुषार्थ हैं, वे हैं कभी तो जागते;
मानव न बुद्धि–विवेक निज हैं सर्वदा को त्यागते।
वे जागते प्रति दिन यथा हैं दिवस के आलोक में;
हो यदि किसी का निधन भी तो क्या रहें चिर शोक में?

गति है कि यदि बैठें कभी तो फिर उठें, आगे बढ़ें;
यदि विघ्न हो नीचे कहीं तो क्या नहीं ऊपर चढ़ें?
प्रज्ञा रहे यदि सुप्त तो उसको जगाना चाहिए;
यदि हो तिमिर जड़ स्वार्थ का, उसको भगाना चाहिए।

अविभाज्य पूर्ण समाज है, उसको भला क्या बाँटना?
अवरोध शाखाएँ करें तो चाहिए ही छाँटना।
मानव नहीं करता सहन निज सदन का अवरोध भी;
करता मनुज उच्छेद है, अवरोध है आता जभी।

इस भाँति ही घातक सदा जातीयता—अध्याय है;
उससे विखण्डित-द्वेषमय बनता अखिल समुदाय है।
जो कल रहा विद्वेष था, गृहयुद्ध में परिणत हुआ;
कुछ नर हुए पीड़ित प्रथम, समुदाय फिर विक्षत हुआ।

अत्यन्त भीषण व्याधि है, करती महासंहार है;
इसको मिटा देना त्वरित, बस, एक ही उपचार है।
कुछ राजनैतिक स्वार्थ में हैं भीड़ को बहका रहे;
पर बुद्धिजीवी मनुज क्यों इस कीच में अँटका रहे?

अब तो अनेक प्रबुद्ध हैं, कर्त्तव्य वे अपना करें।
वे ऐक्य का सन्देश दें; शुभ चेतना जन में भरें।
जातीयता होती अनैतिक और घोर अमानुषिक;
वह तो जगाती मनुज में चिर वृत्तियाँ है पाशविक।

होगा अवश्य समाज में फिर मनुजता का जागरण;
नर तुच्छता से मुक्त हो, देंगे महत्ता पर चरण।
वे शुभ अखंड समाज को होने न देंगें खण्डमय;
जड़, घातिका पशुवृत्ति पर होगी सबल उनकी विजय।

उन्मुक्तता नर चाहता, है वृत्ति नैसर्गिक यही;
जो मुक्त रहता है विहग, है गगन में उड़ता वही।
नर सर्प अथवा जोंक से है चाहता सटना नहीं;
रहती नहीं है क्षुद्रता, जन चाहते रहना वहीं।

भूले कभी पथ हैं वही, जो लोग बहकाये गये;
वे डाल मद्य-प्रभाव में, हैं कुपथ पर लाये गये।
हैं चाहते चलना उसी पथ पर, रहे जो चिर सुखद;
औदार्य और बृहत्त्व ही हैं सर्वदा आनन्द-प्रद।

जब जाति के प्रति थी घृणा, तब नाश भारत का हुआ;
जब था परस्पर प्रेम तो जग में समुन्नत था हुआ।
क्यों जाति के प्रति हो घृणा? दुष्कर्म के प्रति ही रहे;
सत्कर्म ही हो सर्वदा, सर्वत्र सन्मति ही रहे।

क्या जाति ही भोजन करे? सब इतर जन भूखे रहें?
रोगी रहें सब? स्वस्थ कुछ ही? खेत कुछ सूखे रहें?
सब हों सुशिक्षित; योग्य हों, सबका समान विकास हो;
सर्वत्र-उन्नत आचरणमय राष्ट्र का इतिहास हो।

अनुभव बताता है कि जन करते विजय हैं विघ्न पर;
विस्तीर्ण कर देते उसे, संकीर्ण जो रहती डगर।
प्रत्येक जन की शक्ति ही है शक्ति भारतवर्ष की;
प्रतिभा, सुमेधा, श्रम सतत, है डगर यह उत्कर्ष की।

क्या भूमि, नद, वन, पर्वतों की शक्ति ही पर्याप्त है?
वनजन्तु, विहग, सरोवरों की शक्ति भी तो प्राप्त है।
मानव सदा हैं उच्च, उनकी जाति कोई भी रहे;
पशुवत् लड़ेंगे तो उन्हें कोई कभी क्यों नर कहे?

क्या वे अनागत में नहीं देंगे मिटा सारे कलह?
देंगे मिटा जातीयता को; क्योंकि होती यह असह।
रखना उन्हें क्या भेद है? भेदान्त ही वेदान्त है;
लगता बुझाने में समय, पर, अनल होता शान्त है।

है शान्ति के सन्देश को मिलता निरन्तर बल यहाँ;
है अनल जितना, क्या नहीं उससे अधिक है जल यहाँ?
ऊर्जा सदैव अपार है इस भव्य भारतवर्ष में;
जातीयता है किन्तु बाधक देश के उत्कर्ष में।

बाधा अमित है, किन्तु होगा मुक्त भारत का अजिर;
क्या भेद-कलह-विवाद से होना इसे है दास फिर?
कर अन्त इस वीभत्सता का, राष्ट्र होगा ही रुचिर;
यदि हो चिकित्सा त्वरित सम्यक्, रोग मिट जाता अचिर।

आत्मिक रही है देश भारतवर्ष में दृढ़ एकता,
तन भिन्न होते हैं सभी; मन में कहाँ है विविधता?
पिछड़े मनुज भी हों सुशिक्षित और आगे भी बढ़ें;
जिस भाँति सब आगे बढ़े, परवान वे भी तो चढ़ें।

सबको सदा अस्तित्व-रक्षा का उचित अवसर मिले;
क्यों सुमन कोई डाल से नीचे गिरेगा बेखिले?
सबको सदैव समत्व का अधिकार मिलना चाहिए;
जो भी कली ले जन्म, उसको क्या न खिलना चाहिए?

समता मिले सर्वत्र सबको, उचित तो होगा यही;
जो भी विषमता हो कभी, क्या सर्वदा है वह सही?
जब भी हुई अनुचित हुई, पर क्या पुनः वह भूल हो?
क्या हो न मनुज-समानता? क्या विषमतामय मूल हो?

सम है गगन सर्वत्र ही, खग हैं तभी तो उड़ रहे;
सम है पवन सबके लिए; कोई अभाव नहीं सहे।
समतल सभी को दे रही सर्वत्र सरिता-धार है;
सबको सुलभ चिर कूल है, सबके लिए पतवार है।

इस भाँति भारतवर्ष में होगी नवीन समानता;
भेदान्त होगा जातिगत; होगी जनों की एकता।
यदि व्याधि जाती बढ़ बहुत, होती अवश्य समाप्त है;
क्या जन्मसिद्ध समानता सबकों नहीं सम्प्राप्त है?

•

तृतीय सर्ग

सम्प्रदायभेदान्त

क्षेत्र–भेद समान कतिपय भेद हैं;
जातिभेदी रूप सतत सखेद हैं।
कर्म हैं तो क्या न हों उनके नियम?
लग गया इसमें अमित था मनुज-श्रम।

श्रम बहुत कुछ मानवों ने है दिया;
नियम के निर्माण का चिन्तन किया।
जो कहे मन वह करें, समुचित नहीं;
इस तरह तो भटक जा सकते कहीं।

जो लगे अच्छे उन्हें फिर चुन लिया;
हित सभी का हो सके, ऐसा किया।
जो मुझे प्रतिकूल है, अनुकूल है किसके लिए?
चाहिए वह कर्म जिससे सन जिये।

पशु इसे हैं सोच पाते कब कहाँ?
मारकर खाते मिले जो कुछ जहाँ?
किन्तु मानव को मिली कुछ बुद्धि है;
और उसके हृदय में शुभ शुद्धि है।

हम जियें तो सब जियें, यह ध्यान था;
मनुज को निज सत्त्व पर अभिमान था।
कर्म ऐसे हों, सभी सुख पा सकें;
हम करें यदि गान तो सब गा सके।

ढूँढ़ ही लेंगे नियम, आभास था;
सफलता होगी, सबल विश्वास था।
हो गये क्रमशः सफल, कुछ युग लगे,
भाव भी सद्भाव बनकर ही जगे।

सर्वरक्षक कर्म ही करणीय हैं,
सर्वदा वर कर्म ही वरणीय हैं।
स्वयं के प्रतिकूल, तो सबके लिए;
वह नहीं करना कभी भी चाहिए।

शब्द जब मिलने लगे, कर्त्तव्य भी
मिल गया, नर को मिला मन्तव्य भी।
इस दिशा में कुछ तपोमय आ गये।
मिथक भी क्रमशः मिले, जो छा गये।

कर्म जो करणीय थे वे धर्म थे;
मन्न से दर्शन सिखाते मर्म थे।
देश तो थे भिन्न, थी जलवायु भी;
अल्पजीवी और थे दीर्घायु भी।

कर्मकाण्डी भिन्नता भी आ गई;
एकता पर भिन्नता वह छा गई।
साम्प्रदायिक रूप स्वाभाविक हुए;
किन्तु मूल्य अभिन्न ही नैतिक हुए।

भिन्नता जो भी रहे, क्या सार था?
धर्म का भी एक ही आधार था।
किन्तु फिर भी रूढ़ियाँ बढ़ने लगीं;
भेद-लतिकाएँ त्वरित चढ़ने लगीं।

कर्मकाण्ड-मिथक सिखाता भेद हैं;
एक दर्शन प्रेम है, निर्वेद है।
सम्प्रदायों में हुई जो भिन्नता,
धर्म को वह दे रही है खिन्नता।

धर्म-दर्शन तो सिखाता शान्ति हीं;
रूढ़ियों के प्रति अपेक्षित क्रान्ति ही।
धर्म तो कहता कि सहजीवन रहे;
क्यों किसी भी भवन का बन्धन रहे?

सतत सह-अस्तित्व की धारा रहे;
चिर समन्वय-प्रीति की सरिता बहे।
सत्य आवश्यक सभी के हेतु है;
मनुज-मूल्यों में मनुजता-केतु है।

सत्य-नय के हेतु चिर सहयोग हो;
अनय और असत्य का क्यों रोग हो?
धर्म तो कहता कि चिर संयम रहे;
भोग-लिप्सा के दमन का क्रम रहे।

भोग से बढ़ता सदा टकराव है,
भेद से आता सदैव दुराव है।
स्वत्व स्वाभाविक कि सबको सुख मिले,
भद्र हों सब, क्यों किसी को दुख मिले?

सतत नर-जीवन सुमनवत् ही रहे;
क्यों किसी के रक्त की धारा बहे?
चाहिए ही रोकना, यदि स्राव हो;
त्वरित औषधि दे मनुज कि बचाव हो।

क्या भला शोणित बहाना चाहिए?
मनुज को क्या काट खाना चाहिए?
हो क्षुधा तो क्यों न उचित उपाय हों?
क्रूर हिंसा और क्यों अन्याय हों?

अनय में है युद्ध की अनिवार्यता;
तत्त्व यह देती हमें गीता बता।
न्याय के हित प्रथम शान्ति-प्रयास हो;
विफल जब हो तब कहीं कुछ नाश हो।

बाइबिल हो या कि ग्रंथ कुरान हो;
हैं सभी कहते कि मानव-त्राण हो।
हो मनुष्यों में सदैव मनुष्यता;
ग्रन्थ साहब भी इसे देते बता।

रुधिर मानव का बचाना चाहिए;
प्रेम का दीपक जलाना चाहिए।
प्रेम में ही मनुजता-आलोक है;
अन्यथा पशुता-जनित चिर शोक है।

मनुजता की विजय होगी अन्ततः;
चाहिए ही प्रेम की रक्षा अतः।
हो अनय-उच्छेद, जिससे जग बचे;
नर अनरता की नहीं प्रतिमा रचे।

धैर्य का आलोक भी नर में रहे;
धैर्यपूर्वक प्रथमतः दुख भी सहे।
उचित सुख के हेतु सतत प्रयत्न हो;
किन्तु अनुचित के लिए क्यों यत्न हो?

सत्य-नय में ही निहित सन्मार्ग है,
प्रेम-वंचित पथ सदैव कुमार्ग है।
नय-पथिक का सर्वदा ही त्राण हो;
पीड़ितों का त्राण हो, कल्याण हो।

मरण के उपरान्त ही जलना पड़;
या कि कब्रिस्तान के भीतर गड़े।
काटने में धर्म क्या रहता कहीं?
जीवितों को तो जलाये नर नहीं।

नारियाँ यदि हैं जलाई जा रही
यह भला क्या है कभी समुचित सही?
क्रूरता है यह सदैव अमानुषिक;
कृत्य यह तो सर्वथा है पाशविक।

पाशविकता क्या मनुज का धर्म है?
क्या नहीं यह सर्वथा दुष्कर्म है?
सर्वदा क्या यह अनैतिक है नहीं?
है जहाँ भी यह, कलुष रहता वहीं?

साम्प्रदायिकत्ता-निहित क्या ज्ञान है?
मनुज-समता-एकता में त्राण है।
सब सुखी हों, भद्र हों, नीरोग हों;
अनय से उन्मुक्त नर के भोग हों।

सर्वदा हो प्रेम की ही बाँसुरी;
गूँज में हो शान्ति की ही माधुरी।
बेगुनाहों पर चले तलवार क्यों?
निरपराधों पर करे नर वार क्यों?

साम्प्रदायिक भेद से उन्मुक्त हो,
युग बढ़ेगा मनुजता-संयुक्त हो।
अन्त होगा साम्प्रदायिक भेद का;
स्वर उठेंगा प्रीतिमय संवेद का।

व्यक्तिगत ही विषय होगा धर्म तब,
हो सकेगा मनुजता से पूर्ण जब।
सदन में होगी सदा आराधना;
क्या प्रदर्शन हेतु होती अर्चना?

चाहिए ही शान्तिपूर्ण उपासना;
बल-प्रदर्शन की भला क्यों कामना?
मनुज सारे शान्तिपूर्वक जी सकें;
अमृत मानव-प्रेम का वें पी सकें।

धर्म तो अध्यात्म का ही है विषय;
किन्तु भौतिक लाभहित करते अनय।
चाहिए पर-अहित की क्या भावना?
मनुज के प्रति हो सदा सद्भावना?

क्या मनुज के हेतु मनुज अराति है?
एक ही तो मानवों की जाति है।
सर्वदा नरता नरों का धर्म है;
साम्प्रदायिकता सदा दुष्कर्म है।

साम्प्रदायिक भेद का हो ध्येय क्यों?
जनगणों के प्रति सुशान्ति अदेय क्यों?
क्या नहीं सबको सुरक्षा चाहिए?
न्याय की ही चिर विवक्षा चाहिए।

न्याय हो तो क्या कभी टकराव हो?
सर्वदा सौहार्द हो, सद्भाव हो।
साम्प्रदायिक द्वेष का यदि अन्त हो,
जनगणों को सुलभ शान्ति-वसन्त हो।

यदि मनुजता-मार्ग पर सब जन चलें,
क्यों कहीं वध हो? किसी का घर जले?
साम्प्रदायिक भेद की दीवार क्यों?
तोड़ दे नर मनुजता-पतवार क्यों?

है यही पतवार हिंसा-धार में;
मनुजता होती कहाँ है वार में?
क्यों नहीं भेदान्त का वेदान्त हो?
साम्प्रदायिकता–अनल कुल शान्त हो।

पूर्ण मानवता-निहित ही धर्म है;
पाशविकता क्या कदापि सुकर्म है?
धर्म तो है मनुजता-धारण सदा;
सर्वथा प्रतिकूलता क्यों हो कदा?

लग रहा प्रतिकूलतामय आचरण;
धर्म के प्रतिकूल हैं जाते चरण।
यदि न हो इन्सानियत, मजहब कहाँ;
बतन का दुश्मन बनाते रब कहाँ?

थे कभी कुछ लोग ऐसे नाखुदा,
वतन से वे हो गये बिल्कुल जुदा।
वे जुदा ही तो नहीं, दुश्मन हुए;
क्या नहीं बर्बाद चैन-अमन हुए?

यह महज है एक तुच्छ उदाहरण;
हिन्द में क्या हैं सभी हुब्बुलवतन?
साम्प्रदायिक भक्त क्या हैं देश के?
क्या नहीं कारण सदा वे क्लेश के?

सत्य का संवेद आयेगा जभी;
धर्म का भी रूप आयेगा तभी।
साम्प्रदायिक भेदभाव कहाँ रहे,
मनुजता-जलधार यदि मन में बहे?

जन्मना मानव सभी है सुमनवत्;
प्रेमपूर्वक रह सकेंगे ही सतत।
आ रहा है और आयेगा समय;
साम्प्रदायिक भेद पर होगी विजय।

आते रहते हैं सत्य नये,
हैं तत्त्व नये आते रहते;
होता है अन्तिम वाक्य नहीं,
सर्वदा विज्ञ जन हैं कहते।

क्या सम्प्रदाय भी इसी भाँति
रहते परिवर्तन से विरहित?
चिर हो सुधार, चिर संशोधन,
है सत्य-न्याय में सबका हित।

चतुर्थ सर्ग

वर्गभेदान्त

क्या मिथक कभी शाश्वत होते?
हो जीर्ण, चले वे जाते हैं;
ले नवयुग के अनुकूल रूप
क्रमशः नवीनतम आते हैं।

इस भाँति काल-परिवर्तन से
आते हैं अभिनव काल–दूत;
गत युग के हैं सपूत जाते
तो आते हैं नूतन सपूत।

था ब्रह्म-ज्ञान विज्ञान कभी,
पर हुआ नये युग में भौतिक;
जो आध्यात्मिक था कहलाता,
वह आज हो गया वैज्ञानिक।

विज्ञान आज है भूत-ज्ञान;
रह गया नहीं वह ब्रह्म-ज्ञान;
भौतिक जीवन को सुविधामय
करता आविष्कारक विधान।

मांत्रिकता से हो गया पृथक्,
यांत्रिकता-पथ की ओर बढ़ा;
कृषि भी औद्योगिक हुई और
उद्योग और परवान चढ़ा।

अणु भी होते ब्रह्माण्ड सदृश,
लघुतम होता है भले रूप;
रवि को गतिमान बताता था
जो, रहा नहीं वह अन्धकूप।

सर्वत्र व्याप्त स्वामी-श्रमिकों
में होती रहती है टक्कर;
कृषकों का भी है वर्ग पृथक्;
कृषि-श्रमिकवर्ग लड़ते डटकर।

जन अन्य बुद्धिजीवी होते;
संघर्ष युक्तिपूर्वक करते;
जो बेघर अथवा भूमिहीन,
उनके हैं वर्ग क्षुधित मरते।

अधिकारों की, सुविधाओं की
है माँग निरन्तर ही होती;
शोषण-विरोध के नारे हैं;
शोषित टोली रहती रोती।

उत्पादन रुकता रहता है
प्रायः होती हड़तालों से;
घेराव हुआ करते बाधक,
लड़ते जब शोषक व्यालों से।

जो वर्गों में संघर्ष उसे
कहते हैं जन जीवन-धारा;
सर्वदा वर्ग-संघर्ष रहा
जनजीवन-गति का ध्रुवतारा।

जो उपनिवेश थे वे भी तो
जन-संघर्षों से चले गये;
साम्राज्यवाद से टक्कर में
हो गये सफल अभियान नये।

सामंतवाद होगा समाप्त;
कुछ तो हो ही है चुका अभी;
जन जागरूक यदि होते तो
शोषक टिक पाता नहीं कभी।

उत्पादक, अभिकर्त्ता, वितरक
प्रायः रहते हैं टकराते;
वर्गों के तो हैं अमित रूप;
हम उन्हें नहीं हैं गिन पाते।

शिक्षक-विद्यार्थी भी प्रायः
आपस में टकराया करते;
कर्त्तव्य छोड़ अपना-अपना,
संघर्ष-बिन्दु लाया करते।

हो गया वर्ग शिक्षकगण का,
छात्रों का भी हो गया वर्ग;
शिक्षण-अध्ययन कहाँ चलते?
संघर्षों से पूरित निसर्ग।

जो भी शोषण-क्षमता पाता;
वह करने लगता है शोषण;
वीभत्स रूप कवि देख रहा
तो कैसे करे सुछवि-चित्रण?

कवि शोषित-उत्पीड़ित ही है,
इसने भी शोषण झेला है;
झेली हैं भीषण ज्वालाएँ;
देखा नर-विक्रय-मेला है।

शोषक भी नर-तनधारी हैं;
पर नरभक्षी हैं भीषण नर;
जबतक जगते, शोषण करते,
सोते हैं रुधिर-सुरा पीकर।

जो शोषित, बेघर, भूमिहीन
हैं, वे रोते–चिल्लाते हैं;
खटने की रखते चाह, किन्तु
वे काम नहीं कुछ पाते हैं।

वैषम्य–अभाव-निपीड़ित जन
मरने तक पाते दवा नहीं;
जाड़े में धूप नहीं पाते;
गर्मी में पाते हवा नहीं।

कवि तो मानवतावादी है;
चाहता किसी का अहित नहीं;
शोषण से और विषमता से
क्या होता है यह व्यथित नहीं?

शोषक-शोषित का वर्ग-भेद
घटते-घटते मिट जायेगा;
समता जब आयेगी व्यापक,
कवि मधुर गान तब गायेगा।

पर अभी अमित बेचैनी है;
पलभर भी चैन कहाँ पाता?
औरों का नाता है धन से;
कवि का मानवता से नाता।

शोषक-समाज का हित इसमें
ही है, शोषण करना छोड़े;
दे न्यायोचित ही मजदूरी;
अन्याय-नीति से मुख मोड़े।

समता में ही है पूर्ण न्याय;
उसको भी तो आना ही है;
कोई क्या लेकर जायेगा?
धन जग में रह जाना ही है।

शोषित आराम कहाँ पाते ?
घर में 'खर्चन को दाम' नहीं;
भूखे रोटी-रोटी जपते;
लेते ईश्वर का नाम नहीं।

भूखों का भोजन ही ईश्वर;
क्या 'राम नाम' रट पायेंगे ?
जब पायेंगे जीवन-साधन
वे, भजन तभी तो गायेंगे।

रहने को शक्ति चाहिए ही,
जो पोषक भोजन से आती;
जब कुछ दाने खा लेती है,
मैना तब कुछ कहती-गाती।

यदि आज नहीं तो कल अवश्य
शोषक भी इसको समझेंगे;
माँगों से नींद हराम हुई;
हो विवश न्याय समुचित देंगे।

यदि आर्थिक न्याय नहीं होगा
होगा सामाजिक न्याय कहाँ ?
समता के बिना मनुजता के
जीवन का अन्य उपाय कहाँ ?

जो है यथार्थ वह लिखता है;
क्या चिन्ता प्रासंगिकता की ?
वह भी लिखता जो आयेगा;
चिन्ता क्या है भौतिकता की ?

कवि निन्दास्तुति-निरपेक्ष सदा,
होता वह सत्य-प्रवक्ता है;
सारी सत्ताओं से ऊपर
होती चिर कवि की सत्ता है।

जो यह सत्ता पा जाता है;
क्या अन्य वस्तु की चाह करे ?
रह गया अन्य क्या पाने को ?
पाकर क्यों अपना सदन भरे ?

जो कुछ पायेगा, दे देगा;
वह फक्कड़, अवढरदानी है;
जीवन उसका है विषपायी;
वाणी जनगण-कल्याणी है।

रखता क्या कोई पुत्र-मोह?
रखता है केवल सत्य-भाव;
सारे जन उसके अपने हैं;
किससे कब है उसका दुराव?

कवि सदा हितैषी उन सबका
जो होते सच्चे मानव हैं;
सद्गुण-सम्पन्न मनुजता का
जो रखते सच्चा गौरव हैं।

सहृदय जो होते पीड़ित के
प्रति, रखते हैं करुणा मन में,
करते हैं शोषण कभी नहीं,
निर्लोभ सदा रह जीवन में।

... हैं अन्याय नहीं,
... सदा समुचित देते;
... श्रम भी लेते हैं;
... कुछ कभी नहीं लेते।

करते प्रवंचना कभी नहीं,
जो कुछ कहते वह करते हैं;
जो सदा सत्य-रक्षा करते;
चाहे जीते या मरते हैं।

...क निज श्रम दे दें;
...ही है श्रमिकों का;
...श्रण, तौलना न्यून
...कहाँ है वणिकों का?

यह है कोई उपदेश नहीं;
आवश्यकता है जीवन की;
उपयोग यही है क्षण-क्षण का;
यह नैतिकता हो जन-जन की।

वर्गों में क्यों संघर्ष रहे?
समता में हों यदि कुल मानव;
यदि शोषण का हो क्रम समाप्त;
अति विषम नहीं हो नर-वैभव।

ऐसा तो होना है अवश्य,
यदि आज नहीं तो कल होगा;
जड़ वर्गभेद होगा समाप्त;
नर-जीवन तभी सबल होगा।

जीवन क्या हो अजगर समान
औरों के जीवन पर निर्भर?
अन्यों के तन पर बने भार,
औरों के तन का श्रम लेकर?

चल सके नहीं भारीपन से,
दौड़ना कहाँ होगा सम्भव?
गति पा न सके उसका जीवन;
हो अगोरता भारी वैभव।

अजगर क्या छूता मात्र त्वचा?
अस्तित्व अखिल खा जाता है;
क्यों अन्य रहें अस्तित्ववान?
पूरा खाकर सुख पाता है।

इसलिए प्रकृति ने संख्या ही
उसकी सीमित कर डाली है;
उसके समान कोई भी क्या
है व्याल और क्या व्याली है?

पर बड़ी विवशता अजगर की,
यदि हो कोई आक्रमण प्रबल,
तो भाग नहीं वह पायेगा;
मृत होगा वह रहकर निश्चल।

चाहिए शोषकों को, सोचें;
वे बाँट-बूँट कर ही खायें;
शोषण का पथ दें छोड़ स्वतः,
जिससे अस्तित्व बचा पायें।

सोचेंगे, है सन्देह नहीं;
शोषण का पथ वे छोड़ेंगे;
अपना अस्तित्व बचाने को
निर्दयता से मुख मोड़ेंगे।

समता में हैं सुख-शांति नि
वैषम्य घोर मिट जा
होगा समाप्त जड़ वर्ग
सारा समाज सुख पा

यह किसी 'वाद' का प्रश्न नहीं,
सीधी-सादी मानवता है;
सारी सत्ताओं से ऊपर,
समता की पावन सत्ता है।

सत्ता यदि रखती व
यदि करे जातिगत पक्ष
तो होगी ही वह विफल
होगा ही उसपर वज्रप

बढ़ रहा समय का रथ क्रमशः;
वह किसी बिन्दु पर कहाँ रुका ?
झुक सकता है हिम-शिखर कभी;
जन-जागृति का सर नहीं झुका।

है अस्वाभाविक वर्ग- भेद;
स्वाभाविक होती समता ही;
सब मिलकर पायें सम जीवन;
मिटती अवश्य परवशता ही।

है अन्त जन्म में ही निश्चित,
तो भेद-जन्म अपवाद नहीं;
ज्यों क्षेत्र-भेद का, जातिभेद–
का अन्त सुनिश्चित रहा वहीं।

हो सम्प्रदाय या वर्गों का
भेदान्त सुनिश्चित है होना;
उपलब्धि प्रगति की होगी यह;
इसमें क्या कुछ भी है खोना ?

इस भाँति विषमता-शोषण का
भी होना ही है उन्मूलन;
ज्यों अखिल शिशिर-जर्जरता पर
आता वसन्त का नवयौवन।

मिट ही जायेंगे शूल निखिल;
समता के सुमन खिलेंगे ही;
जो वर्गभेद के कारण हैं
बिछड़े, वे गले मिलेंगे ही।

समतलता ही है स्वाभाविक;
चाहते मनुज हैं पथ समतल;
चाहते नहीं हैं मार्ग विषम;
भूतल हो अथवा सरिता-जल।

इसमें सन्देह नहीं कोई,
मानव अविराम प्रगतिमय है;
भय से रुकती है प्रगति नहीं;
जनगण रहता चिर निर्भय है

पंचम सर्ग

विश्व–शासन

चाहिए थी विधि-व्यवस्था, शान्ति भी;
मनुज करता ही रहा उत्क्रान्ति भी।
काल के बल से बड़ा है मनुज-बल;
काल भी है किन्तु क्या रहता अचल?

जगत् भी रहता सतत गतिमान है;
इसी गति से दीखता दिनमान है।
अखिल अणु-परमाणु रहते कर्मरत;
क्या नहीं कर्त्तव्य ही करता प्रगत?

रश्मि-कण भी बढ़ रहे आलोकमय;
क्या रहे मानव नहीं शाश्वत अभय ?
क्या नहीं तरु में निहित कल्याण है ?
क्या नहीं पवमान भरता प्राण है ?

मनुज भी वन से चला निर्माण
ग्राम का निर्माण था कल्याणम
ग्राम-शासन भी समय पर कर लि
बल बृहत्तर मनुज को उसने दिय

किन्तु मानव ग्राम तक सीमित कहाँ ?
चाहिए विस्तार, संख्या गुरु जहाँ;
अधिक संख्या-वृद्धि से चिन्ता बढ़ी;
ग्राम-जनसंख्या शिखर पर तब चढ़ी।

कुछ बृहत्तर क्षेत्र ग्रामों को मि
था नगर-निर्माण का अब सिलसि
कुछ बढ़े संचार-माध्यम भी स
परिवहन की वृद्धि भी थी अनवर

नगर को भी किन्तु शासन चाहिए;
कुछ बृहत्तर प्रगति-चिन्तन चाहिए।
ग्राम-शासन को मिला विस्तार तब;
कर इसे नर हो गये निश्चिन्त अब।

क्या नहीं चलता रहा यह प्रगति-क्रम ?
प्रगति से जनपद बने तो बढ़ा श्रम
ग्राम-नगर-समूह से जनपद बने
मूल से बढ़ते गये ऐसे तने

जनपदों से क्षेत्र-प्रान्त हुए रचित;
क्या नहीं चलता रहा विस्तार नित ?
देश-राष्ट्र हुए विनिर्मित इस तरह;
जागरण लाई नया कुछ हर सुबह।

प्रश्न है यह मूल, शासन चाहिए;
कुछ-न-कुछ तो नियम-बंधन चाहिए
किन्तु अधिनायक बने शासक नहीं;
क्या निरंकुशता बनी बाधक नहीं ?

राजतंत्रों से बड़ा जनतंत्र है;
स्वत्व-समता ही महत्तर मंत्र है।
राष्ट्र-सीमा से बड़ा संसार है;
सम विकास रहे सभी का, सार है।

विषमता-अस्तित्व क्या वांछित कहीं?
भेदमूलक दृष्टि है समुचित नहीं।
राष्ट्र कोई भी अविकसित क्यों रहे?
या कि अल्प विकास की विपदा सहे?

सम विकास सभी जनों को मिल सके;
सुमन जनता के हृदय का खिल सके।
मुक्त सबका उड्डयन-आकाश हो;
सुलभ सबको सम प्रगति-मधुमास हो।

विविध देशों में कभी क्यों भेद हो?
क्यों किसी को दीनता का खेद हो?
क्या नहीं सुविकास की समता रहे?
स्वावलम्बन की सदा क्षमता रहे।

मुक्ति रहती आत्म निर्भरता-निहित;
स्वाभिमानी पथ सदा समता-विहित।
शक्तिमय सब हों, तभी तो शक्ति है;
परस्पर होती तभी अनुरक्ति है।

विश्व-मधुवन को हँसाना चाहिए;
अखिल जग को प्रेम पाना चाहिए;
निखिल राष्ट्र-सुमन रहें मकरन्दमय;
हों सभी के छन्द चिर आनन्दमय।

सृष्टि के जनपिक सदा गाते रहें;
प्रीति सबको दे सकें, पाते रहें।
सर्वदा सुविकास लाना चाहिए;
उजड़ते गृह को बनाना चाहिए।

संग सबको चिर बढ़ाना चाहिए;
जो गिरे उसको उठाना चाहिए।
रूप ऐसा हो अखिल संसार का,
हो सदा निर्झर प्रवाहित प्यार का।

औपचारिक ही नहीं, हो वास्तविक;
व्यावसायिक ही नहीं अथवा नयिक।
चाहिए कुछ भी नहीं आडम्बरी,
सत्य की ही शक्ति हो सबमें भरी।

तत्त्व क्या है अधिनियम कि विधान में?
और क्या है तत्त्व झूठी शान में?
कर्म से ही सत्य अखिल विधान है,
शक्ति रहती प्राणमय अभियान में।

बात क्या उपदेश अथवा ज्ञान की?
सर्वदा है तत्त्व-सत्य-प्रदान की।
सुपथ ही नर को बनाना चाहिए;
जो रहे आदर्श घोषित, कर दिखाना चाहिए,

ध्येय हम जिसको कहें, कर दें उसे;
यदि कहीं त्रुटि-छिद्र हो, भर दें उसे।
कथन के अनुसार करना चाहिए;
निज वचन से क्या मुकरना चाहिए?

[illegible]गन पर भी दृष्टि रखते हैं विहग;
[illegible]ा नहीं नर का विषय हो पूर्ण जग?
[illegible]ड ही क्यों विश्व को देखे मनुज;
[illegible] क्षुधापीड़ित नहीं भव, हो विरुज।

विश्व को चलना पड़ेगा इस तरह,
व्याप्त वायु-प्रवाह रहता जिस तरह।
राष्ट्र कोई भी उपेक्षित हो नहीं;
मनुज का जीवन भला सीमित कहीं?

[illegible]श्व-शासन में मनुज का सुख निहित;
[illegible] रहा है तो चलेगा विश्व नित।
[illegible] अखिल भू-गगनमय संसार है,
[illegible]ल देशों का सदन-परिवार है।

राष्ट्र-जीवन, विश्व-जीवन भी बढ़े,
विश्व शासन-सुरथ पर मानव चढे।
चल पड़ा रथ, तीव्रतर गति ले रहा;
राष्ट्र-शासन को सबलता दे रहा।

विश्व कितनी यंत्रणाएँ सह चुका;
रक्त का सागर बृहत्तम बह चुका।
यंत्रणाएँ तो स्वनिर्मित ही रहीं;
वृक्ष से या गगन से टूटीं नहीं।

अब कहाँ बाधा रही दीवार की?
हिमशिखा भी है मनुज ने पार की।
विश्व-शासन की ध्वजा नभ में उड़ी;
शान्ति की धारा कभी क्या है मुड़ी?

षष्ठ सर्ग

संस्कृति-रूपान्तर

जैसा है जीवन का प्रवाह,
वैसा ही संस्कृति का होता;
चलते हैं चिन्तन और मनन;
अस्तित्व नहीं नर का सोता।

हैं लोकान्तरण जिसे कहते
उसमें भी तो रहती है गति;
लेकर प्रयोग-आलोक सतत,
आगे बढ़ती जाती है मति।

संस्कृति-प्रवाह भी गतिमय है;
वह क़भी नहीं है स्थित्यात्मक;
स्थित्यात्मक होता है मृत ही;
जीवित रहता है गत्यात्मक।

संस्कृति में निहित परिष्कृति है;
हो सदा विकृति का परिष्कार;
सर्वत्र प्रदूषण आता है;
पर कभी नहीं वह दुर्निवार।

जीवन की धारा है अबाध;
होते अवरोधक तत्त्व विफल;
चाहे हो कोई शिला-खण्ड,
अथवा हो कोई शैल सबल।

इस भाँति सतत चलती रहती
संस्कृति की उच्छल धारा है;
धाराएँ हैं डूबती कहाँ?
डूबता सदैव किनारा है।

आदान-प्रदान पंथ सम्यक्;
वह दे अवश्य जो लेता है;
जो है असमर्थ-विवश वह भी
निज अश्रुबिन्दु तो देता है।

होती अपूर्णता न्यूनाधिक;
पर कुछ तो सब में होती है;
इसलिए कृषक जनता अविरत
कुछ नये बीज भी बोती है।

बापू ने भव को दिया बहुत;
थे रखते नहीं पूर्णता-भ्रम;
अन्त्योदय सीखा रस्किन से;
था तोल्सतोय से सीखा श्रम।

थे अन्तिम बिन्दु मानते क्या?
वे सर्वोदय की ओर बढ़े;
अन्त्योदय तक ही क्यों विकास
हो? हर मानव परवान चढ़े।

पूर्णता रहे तो क्या विकास ?
जीवन चिर सद्विकासमंय है;
उसका जीवन भी क्या जीवन—
जो रहता सतत ह्रासमय है ?

सत् ही लेने की वस्तु, असत्—
को लेना क्या सम्यक् होता ?
सत् लेकर सत् ही दे मानव;
तो जीवन है सार्थक होता।

क्या रहे एक में ही सीमित
भगवान बुद्ध अथवा शंकर ?
इस भाँति रहे त्रिशलानन्दन
क्या एक बिन्दु पर ही रुककर।

जब जैसा आवश्यक होता,
मानव करता है परिवर्तन;
ऋतुचर्या—दिनचर्या भी तो
इस पथ से देती हैं जीवन।

रक्षा सर्वदा अहिंसा है,
चिर प्रत्याक्रमण अपेक्षित है;
यदि हो कोई आक्रमण नहीं—
तो अनाक्रमण ही समुचित है।

इस पथ पर चलकर ही अविरत
बढ़ पाई मानव-संस्कृति है;
चेतना-निहित संस्कृति टिकती;
क्या टिकती कोई आकृति है ?

चेतनामयी संस्कृति रहती,
अन्यथा नहीं है चल पाती;
संस्कृति की धाराएँ अभिनव
चेतना-शक्ति से हैं आती।

आये ईसा भी इसी भाँति;
इस भाँति मुहम्मद भी आये;
निज देश-काल-अनुरूप सत्य
का निज दर्शन वे दे पाये।

गुरु नानक जी, गोविन्द सिंह
भी थे इसके अपवाद कहाँ ?
जाना आवश्यक होता है,
मिलता जीवनमय तत्त्व जहाँ।

गत शताब्दियाँ हैं उदाहरण;
आया रामानंदी चिन्तन;
लाये रामानुज, वल्लभादि
निज-निज चिन्तन का नवजीवन।

चैतन्य महाप्रभु भी यों ही,
लाये कबीर थे, सूरदास;
वेमन आये थे दक्षिण में
चलता आया क्रमशः विकास।

कवि शंकर देव और माधव
दे गये असम को अभिनव स्वर,
कवि चण्डीदास बंग-भू पर
कह गये, 'मनुज से क्या बढ़कर ?'

यों ही खुसरो, जायसी आदि
लाये थे मनुज-प्रीतिवाणी;
त्यों ही रसखान-रहीम मिले,
देते जीवन-छवि कल्याणी।

आये सुधार-अभियान लिये
वैदिक दर्शनमय दयानन्द;
थे भारतेन्दु, बँगला -रवीन्द्र
लाये नव मानव-प्रीति-छन्द।

मानवता-रक्षा मूल तत्त्व
पर हुईं सुविस्तृत शाखाएँ;
था भाव एकता का सबमें;
थीं भिन्न भले ही भाषाएँ।

परिवर्तित युगानुरूप हुईं
जो थी विभिन्न आकृतियाँ कुल;
त्रिज्याएँ ही होतीं विभिन्न;
है वृत्त सदा होता वर्त्तुल।

है रूप मात्र लघु-गुरु होता;
संस्कृतियों में क्या है अन्तर ?
है आवश्यक होता केवल
युग-युग संस्कृति का रूपान्तर।

ज्यों एक विटप का मूल एक,
शाखाएँ ही होतीं विभिन्न;
त्यों एक उपज का बीज एक,
आकृतियाँ होतीं भिन्न-भिन्न।

संस्कृति की क्या है जाति-पाँति,
वह कहाँ साम्प्रदायिक होती ?
राष्ट्रीय मात्र हो सकती है;
पर विश्व-एकता क्या खोती ?

राष्ट्रीय एकता के विरुद्ध
होता उसका अभियान कहाँ ?
विघटन-तनाव के माध्यम से
पाता मानव वरदान कहाँ ?

अविभाज्य विश्व को होना है;
क्रमशः टूटेंगी सीमाएँ;
मिटती ही जायेंगी क्रमशः
संस्कृति-विभेद की रेखाएँ।

सीमा भौगोलिक ही होगी,
सांस्कृतिक नहीं रहनेवाली;
मानवता-गति से मृत होगी
निष्ठुर अमानुषिकता—व्याली।

सभ्यता वाह्य रखती विभेद;
संस्कृति आन्तरिक एकता है;
मिट सके प्रदूषण-विकृति नहीं,
क्या ऐसी घोर विवशता है ?

जड़ता का तिमिर नहीं शाश्वत
है, नहीं रूढ़ियाँ रह सकतीं;
ऐसी दीवारें कहीं नहीं
जो नहीं शक्ति से ढह सकतीं।

संस्कृति-मीरा है कहाँ रुकी
राणा की जड़ दीवारों से ?
क्या मनुज-प्रेम रुक पाया है
पशुता-भय की ललकारों से ?

क्या घृणा-द्वेष हैं बल देते ?
बल सदा प्रेम ही देता है;
यह तत्त्व मनुज है समझ रहा,
वह नहीं वैर-पथ लेता है।

संस्कृति क्या देती घृणा-भाव ?
क्या नर को वैर सिखाती है ?
हो निकट सुलभ या हो सुदूर,
वह सदा प्रेम ही लाती है।

संस्कृति रूपान्तर पाती है
तो मानव-प्रेम बढ़ाती है;
भूले-भटकों को राह बता,
मानवता-पथ दिखलाती है।

इस पथ पर मानव बढ़ता है;
ज्यों-ज्यों शताब्दियाँ हैं आती;
बुझते दीपों पर इस प्रकार
संस्कृति नवदीपक है लाती।

बढ़ती प्रकाश की शक्ति सतत;
आयेगा ही अभिनव प्रकाश;
ज्यों-ज्यों प्रकाश-बल बढ़ता है,
मानव पाता है नवोल्लास।

कुछ काल तिमिर कुछ रह सकता,
जब आता है संक्रमण-काल;
है नया रूप लेता प्रकाश
तो नर पाता है दिव्य भाल।

संक्रमण क्रान्ति-परिणत होकर
अभिनव स्वरूप लाता ही है;
तब होता ही है रूपान्तर;
युग नव स्वरूप पाता ही है।

शिक्षा-साहित्य-प्रगतिबल से
रूढ़ियाँ अखिल होंगी समाप्त;
जड़ता क्रमशः दुर्बल होगी;
चेतना करेगी शक्ति प्राप्त।

चेतना ज्योति-बल देती है;
देगी ही, यह स्वाभाविक है;
सच्ची संस्कृति जब आती है
तो देती ही बल नैतिक है।

नैतिकता होगी सच्ची तो
कैसा विभेद मानव-गण में?
एकत्व निहित नैतिकता में;
रुचि होगी सबके जीवन में।

क्रमशः शताब्दियाँ आयेंगी,
एकत्व बढ़ाती जनगण में;
होगी स्वतंत्र वसुधा सारी;
क्या देश रहेंगे बन्धन में?

रहती समता है जहाँ वहीं
सच्ची स्वतंत्रता आती है
इसमें कुछ हो सकता विलम्ब;
जनता अवश्य ही पाती है।

मानव को स्वतंत्रता होगी
निज उचित अंश पा लेने की;
होगा कर्त्तव्य प्रदान जहाँ,
इच्छा होगी दे देने की।

अन्यों का उचित अंश लेना
तब मानव कभी न चाहेगा;
होगा प्रबन्ध ऐसा ही कुछ,
कोई न किसी को लूटेगा।

संस्कृति रहती नैतिकता में—
तो होती है वह आर्थिक भी;
संस्कृति पाने को निज स्वरूप
इस भाँति रहेगी नैतिक भी।

देनेवाला होता विशिष्ट;
क्या लेने वाला होता है ?
वह तो अधिकाधिक पाने को
आंजीवन रहता रोता है।

संस्कृति है सरिता के समान,
क्रमशः विस्तार बढ़ाती है,
ज्यों-ज्यों विस्तृत होती जाती
त्यों-त्यों सूदूर तक जाती है।

अनुदार भला है संस्कृति क्या ?
वह क्या देती है कभी विकृति ?
जो भोग-निहित हो जाती है,
हो जाती है वह अपसंस्कृति ?

एकत्व न यदि संस्कृति देती
तो क्या वह संस्कृति होती है ?
एकत्व-चेतना जगा सके
वह जो जन-जन में सोती है।

कर सके जनों को अनुस्यूत
जो वह मनुजोचित वाणी है;
जन-जन को जो जीवन देती
वाणी, संस्कृति-कल्याणी है।

इसमें सन्देह नहीं कवि को,
ऐसी संस्कृति आयेगी ही;
वह सम्प्रदाय जड़, जाति-जाल
से मुक्त सुछवि पायेगी ही।

सत्ता भी नहीं बाँध सकती;
संस्कृति सत्ता से ऊपर है;
विस्तृत होती है त्यों ही वह
ज्यों अन्तरिक्ष या अम्बर है।

संस्कृति कहते हैं उसको ही
जो अनुस्यूत कर देती है;
दे परिष्कार, विस्तार, प्यार,
कुछ नहीं स्वयं वह लेती है।

मानव सब कुछ कर सकता है;
क्या नहीं एक हो सकता है ?
प्रत्येक मनुज के जीवन में
चिर प्रेम-बीज बो सकता है।

करनी अवतार-प्रतीक्षा क्या ?
प्रत्येक मनुज अवतारी है;
जो सदा प्रेम-वंशी-वादक
होता है, वह वनवारी है।

है राम वही जो जन-जन में
मानव-एकत्व जगाता है;
है वही श्याम जो समता का
आलोक विश्व में लाता है।

ऋषि भी है वही मनुज होता
जो सदा सत्य ही कहता है;
जो सत्य-शान्ति के लिए सतत
अगणित पीड़ाएँ सहता है।

होती अभाव की व्यथा अमित,
कवि को इसकी है स्वानुभूति;
पर किसी भूति के लिए मनुज
क्या करे कभी मिथ्या-प्रसूति ?

है वही महात्मा गाँधी जो
संघर्ष सत्य-हित करता है;
जीवन जिसका है इसी हेतु;
जो इसी ध्येय पर मरता है।

हो सकती कभी पराजय भी;
अन्ततः सत्य की जय होती;
है यह वैदिक उद्घोष अमर;
है शक्ति यही निर्भय होती।

रूढ़ियाँ अखिल होंगी समाप्त;
शुभ शान्ति-सत्य होंगे विजयी;
वस्तुतः मनुज होंगे प्रबुद्ध
तो बन पायेंगे कालजयी।

है निहित ब्रह्मसत्ता जन-जन,
कण-कण में; उसे जगाना है;
पाकर अवश्य यह ब्रह्म-ज्ञान
जड़ता का भूत भगाना है।

जो है व्यतीत वह भूत हुआ;
है वर्त्तमान ही विद्यमान;
आलोकित करना है भविष्य;
विद्वान् वही जो कर्मवान।

सत् को ही कहते कर्म, असत्—
को कर्म नहीं कवि कहता है;
कवि वही, क्रान्तदर्शी है जो;
क्या वह अतीत में रहता है?

जयिनी होगी ही मानवता;
पशुता अबश्य होगी समाप्त;
आवश्यक होते हैं पशु भी;
नर क्या पशुता को करें प्राप्त?

धन-संचय की कामना रूढ़
सर्वदा मूढ़ ही करते हैं;
अर्जन करना आवश्यक है;
क्यों चिर संचय पर मरते हैं?

तन से ही मरना क्या होता?
मानव तो मरता धन से भी;
यदि सदुपयोग कर सके नहीं,
है यह घातक बन्धन से भी।

यों यह बन्धन मिटना ही है,
जब सच्ची समता आयेगी;
मानवता-सम्मत, उचित मूल्य
श्रम सहित बुद्धि भी पायेगी।

कवि किन्तु चाहता है, अवश्य
यह बुद्धि ज्ञान में परिणत हो;
बन सके ज्ञान भी ब्रह्म-ज्ञान;
मानवता की गति अक्षय हो।

स्वच्छता चाहिए मानव को
चिर वाह्य-आन्तरिक निर्मलता;
तन-मन आरोग्यपूर्ण होंगे;
होगी कदापि क्यों दुर्बलता ?

वे ही मानव हैं स्वच्छ-दक्ष,
जो चिर दुर्गन्ध मिटाते हैं;
करते हैं चिन्ता कभी नहीं,
वे जग से कितना पाते हैं।

सच्चा कवि युग-युग इसी भाँति
सच्चा लेखन-श्रम करता है;
वह लाभ-लोभ-उन्मुक्त सतत,
पाता इतिहास-अमरता है।

इसमें सन्देह नहीं, युग-युग
गतिमान 'निराला'-रथ होंगे;
कुल राजपथों पर विजयी नव
मानवतामय जनपथ होंगे।

अविभाज्य विश्व है और नाम
है यह अखण्ड-अविभाजित का;
जीवित ही जीवित कहलाता;
क्या है यह नाम अजीवित का ?

नरता से ही नर होता है,
पशुता से क्या हो सकता है ?
पशुबल से ही तो वैभव का
वह महाभार ढो सकता है।

यों तो सब कुछ मरता है, पर
सद्भाव नहीं मरनेवाला,
दुर्भावपूर्ण है जीवन्मृत,
जो है संचय करनेवाला।

शुभ समतामयी, नरत्वमयी
जग में नव संस्कृति आयेगी;
उसकी स्वच्छता-सुरभि अभिनव
सम्पूर्ण विश्व में छायेगी।

संभवतः इसीलिए मानव
जड़ पशुता को अपनाता है;
पशुता को तो जीवित रखता;
पशु को बलि किन्तु चढ़ाता है।

बलि सदा स्वार्थपरता की हो
बलिदान इसे ही कह सकते;
क्या अपने पुत्र-कलत्रों की
बलि कभी मनुज हैं सह सकते ?

यदि शक्ति और साधन होंगे
तो वे भी शस्त्र उठायेंगे;
जो बलि देगा उसको भी वे
झट बलि की भेंट चढ़ायेंगे।

निर्दय में क्या मानवता है ?
वह मानव की भी बलि देता;
अन्यों को देता उचित नहीं;
अनुचित भी किन्तु स्वयं लेता।

प्रासंगिक होते कभी मिथक;
त्यों ही हो सकते हैं पुराण;
शाश्वत हो पाते किन्तु नहीं
उनके समस्त शैली-विधान।

परिमल में हैं आन्तरिक तत्त्व;
हैं रंग वाह्य केवल होते;
इसलिए कृषक भी प्रधानतः
हैं विविध खाद्य ही तो बोते।

वे कठिन यत्न से कुछ ऐसी
सुन्दर क्यारियाँ बनाते हैं–
जिनसे होती सिंचन-सुविधा,
उनमें जल पहुँचा पाते हैं।

मिथकत्व अमर हो सकता है,
हो सकती है पौराणिकता,
पर देश-काल-सीमित है जो
वह तो अमरत्व नहीं रखता।

हो काव्य प्राणवत्ता-प्रधान,
हों बिम्ब-चित्र सर्वदा गौण;
जिनसे पय प्राप्त नहीं होता,
ऐसी गायें चाहता कौन?

वसुधा कुटुम्बवत् ही है, यह
चेतना कभी तो आयेगी;
हम जियें और जीने भी दें;
कुल मानवता सुख पायेगी।

यौवन उसको ही कहते हैं
जो सतत प्रगतिमय रहता है;
निर्झर क्या होता वही नहीं
जो आगे बढ़ता-बहता है?

है काल सतत गतिमान, नहीं
वह रहता कभी अचल होकर;
निज हित भी क्या कर सकता वह
जो समय गँवाता है सोकर?

जो प्रगति नहीं दे पाते हैं
वे चरण हटाये जाते है;
हैं तत्त्व अपेक्षित वैसे जो
यौवनमय जीवन लाते हैं।

मानव रहते हैं प्रेम-सहित,
पशु ही रहते हैं टकराते;
यदि मानव टकराते रहते
तो कभी चैन क्या हैं पाते?

जो नहीं चैन देती वह क्या
है मानवीय संस्कृति होती?
विघटन, टकराव, कलह के जो
है ध्वंसक बीज कभी बोती?

आवश्यक संस्कृति-रूपान्तर;
यह रूपान्तर होना ही है;
जो सहस्राब्दियों का कलंक
है, उसको तो धोना ही है।

करना पड़ सकता गरल-पान
कुछ, मानव उसको भी लेंगे;
अन्तस्तल-पट हैं फटे हुए,
उनको अवश्य वे सी देंगे।

है गरल अमृत भी बन सकता;
संस्कृति का अर्थ बनाना है;
संस्कृति-यात्रा है पूर्ण कहाँ?
इसको सुदूरतर जाना है।

सन्देह नहीं है, कल अवश्य
संस्कृति-उद्यान लगेगा ही;
सुमनों की रंग-भिन्नता में
भी यह एकत्व जगेगा ही।

इस भाँति सुसंस्कृत हो मानव
सुखमय नवजीवन पायेगा;
सर्वत्र समुन्नत मानवता
का मधुमय छन्द जगायेगा।

आयेंगे महाबीर, गौतम,
नवयुगी बिवेकानन्द यहाँ;
बापू भी आयेंगे अवश्य;
वे आ सकते अन्यत्र कहाँ?

भारत की अनुपम भूमि रही
है ऐसे दिव्य मानवों की;
यह भूमि बनेगी पुनः पुनः
जननी इन परम गौरवों की।

फिर परमहंस भी आयेंगे
देने को अपना शिष्यरत्न;
असफल हो जाते निम्न यत्न;
निष्फल क्या होते सत्प्रयत्न?

जब महातिमिर आ जाता है
तब ज्योति नहीं लगती सम्भव;
सद्भाव जभी जग जाते हैं
तो मिल जाता ज्योतिर्वैभव।

आलोक जयी यह आयेगा;
संस्कृति रूपान्तर पायेगी;
सन्देह नहीं कवि को कि ज्योति
अतिशय सुदूर तक जायेगी।

जब सीमाओं से विकल विश्व
सम और एक हो जायेगा
तब क्या सन्देह कि रूपान्तर
नव-नव महिमाएँ लायेगा।

अणिमा-लघिमा से आ बढ़,
मानव महिमा की ओर चले,
तो क्या सन्दिग्ध रहेगा यह,
शाश्वत गरिमा का दीप जले?

वैसी सुषमा का वर्णन क्या
कोई भी कवि कर पायेगा?
क्या चित्रण उसका सम्भव है?
चित्रण असफल हो जायेगा।

सप्तम सर्ग

प्रकृति-रूपान्तर

प्रति पल बदलती है प्रकृति;
गति-दीप नव देती जला;
कुछ भी कहाँ गतिहीन है?
अचला स्वयं है चंचला।

कण-कण सतत गतिमान है
जीवन जगाने के लिए;
यह कल्प अविरत चल रहा
यौवन सजाने के लिए।

बुझते भले जर दीप हैं,
रवि अनवरत है जल रहा;
युग-युग भले उत्ताप का
अतिभार है उसने सहा।

अणु-अणु बदलता है सदा
नव छन्द पाने के लिए;
चिर विहग रहते हैं विकल
नवगीत गाने के लिए।

दे वह नवीन हरीतिमा
वन-रूप भी गतिशील है;
पल्लव प्रगति के पुंज हैं;
उनमें न काँटा -कील है।

पाता स्वपुष्पों की छटा
जो शूलपूर्ण बबूल है;
हम देखते बैठा हुआ;
गतिहीन क्या उपकूल है?

निद्रा सजाती स्वप्न है
नव गति बढ़ाने के लिए;
इस भाँति नभ रहता विकल
नव ज्योति पाने के लिए।

क्षिति भी नहीं गतिहीन तो
गतिरहित क्या रहता अनल?
उसकी प्रगति क्या रोक पाता
है अगमतम सिन्धु-जल?

करती विकल वारीश को
बड़वाग्नि की गतिमानता;
यह अतलता में है निहित,
तल से कहाँ चलता पता?

गति सतत रखता सलिल भी;.
गतिमान क्या पवमान ही?
करता प्रगति की घोषणा
नद का तरंग-विधान भी।

चिर शून्य लगता है गगन,
वह भी सतत है प्रगतिमय;
नक्षत्र-मण्डल की विभा
देती प्रगति होकर सदय।

चपला दिखाती नृत्य है;
घन प्रगति-पथ पर घुमड़ते;
हैं ग्रह-उपग्रह दोड़ते;
उड्डयन लेकर उमड़ते।

कहना कठिन, कितनी त्वरा
से उड़ रहा मकरन्द है;
करते विहंगम उड्डयन;
गति का समद्भुत छन्द है।

क्या पवन की गति को कभी
उल्लिखित करना है सहज?
झंझानिलों के वेग से
उड़ती अनवरत प्रगति-रज।

सारा विपिन गतिमानता
का विकल अविरल पुंज है;
अनवरत गति से गूँजता
जाता सदा मधुकुंज है।

कुल दूरबीनें भी नहीं
हैं देख पातीं सूक्ष्म गति;
जो सूक्ष्मतर है सूक्ष्म से,
उसको समझती है सुमति।

अनुमान भी यदि सूक्ष्म हो,
होता सदैव प्रमाणत्;
यों ही मनुज-संचेतना
करती प्रगति है अनवरत।

है प्रगतिमय दर्शन सतत,
त्यों ही प्रगत विज्ञान है;
रूपान्तरित करते उभय
मिल, यह सदैव प्रमाण है।

जब सृष्टि ही रहती चला,
क्या प्रकृति भी होगी नहीं ?
रुकती किसी अवरोध से
क्या काल की धारा कहीं ?

उद्योग भी गतिमान हैं;
कृषि भी सतत है गतिमयी;
गतिमान घूमावर्त्त है;
विज्ञान भी होगा जयी।

अध्यात्म की संचेतना
से व्याप्त यदि होगी धरा,
अंकुश प्रदूषण पर सहज;
हो यत्न में जो भी त्वरा।

अंकुश कहाँ तक बाँधता ?
वह मात्र करता संतुलित;
यदि रुज चरम पर पहुँचता,
क्या सर्वथा होता विजित ?

है विश्व सामंजस्यमय,
क्या प्रकृति भी अपवाद है ?
होगी दिशा भी मौन क्या–
जब ध्वनित शृंगीनाद है ?

वादित्र-ध्वनि से अनवरत
बढ़ता प्रगति-उत्साह है;
जैसे घनों की वृष्टि से
चिर प्रगत सलिल-प्रवाह है।

होगी प्रकृति रूपान्तरित;
संस्कृति यथा है हो रही;
निर्मम नितान्त यथार्थ है;
है काल्पनिकता सो रही।

कवि कल्पना जो भी करे,
है वास्तविकता भी सही;
रखता समन्वय शक्ति है;
करती पराजित क्या मही ?

अनुभूति है सुबलीयसी;
क्या कल्पना है बलरहित ?
होतीं समन्वित जब उभय
तो शक्ति देती हैं अमित।

विज्ञान-प्रकृति भला नहीं
क्या हैं समन्वय-पन्थ पर ?
यह पथ सदा रूपान्तरण
को शक्ति देता है अमर।

कोई नहीं भयभीत हो,
अस्तित्व होगा ही सबल;
भू-स्खलन के आवेग से
क्या अचल भी रहता अचल ?

रूपान्तरण से विश्व चिर
है बल अपरिमित पा रहा है;
जब नीड़ से निकला विहग
तब मुक्त होकर गा रहा।

होता यथा मज्जन फलद
तन स्वच्छ करने के लिए;
ज्यों दीप होता प्रज्वलित
तमतोम हरने के लिए;

उस भाँति है रूपान्तरण
नव प्राण भरने के लिए,
होता यथा सत्कर्म है
भवसिन्धु तरने के लिए।

अध्ययन आवश्यक यथा
होता सुलेखन के लिए;
उत्सर्ग भी अनिवार्य है
साहित्य-सर्जन के लिए।

उत्प्रेरणा देती प्रकृति
रूपान्तरण की शक्ति से;
नर को निकलना चाहिए
आसक्ति और विभक्ति से।

क्या एकरूपा है प्रकृति?
करती सतत रूपान्तरण;
बैठे कहाँ रहते सदा
गतिपूर्ण ऋतुओं के चरण?

अनुमान अखिल भविष्य का
क्या प्राप्त कर पाता मनुज?
युग-युग चिकित्सक हैं लगे,
पर क्या मिटे हैं निखिल रुज?

नर का चिकित्सा-ज्ञान भी
रूपान्तरित होता सतत;
है प्राप्ति अन्तिम के लिए
विज्ञान रहता यत्नरत।

औषधि निरन्तर शान्त हों;
यह रट मनुष्य लगा रहा;
अविरत प्रयत्नों से मनुज
कुछ तो अशान्ति भगा रहा।

है प्रकृति भी निज प्रकृति से
पाती सदा जीवन्तता;
वह भी नहीं निर्जीव है;
नर कर सका है यह पता।

चिर प्रकृति स्वयं सजीव है,
करती स्वयं रूपान्तरण;
निज प्रगति और विकास के
अभिनव सजाती आवरण।

उसका महत्त्व अपार है,
इसको मनुज है जानता;
दूषण-प्रदूषण-विकृति को
भी वह सतत पहचानता।

रूपान्तरण लाते सदा
मिल प्रकृति से मानव सदय;
यह भी पता है, वन्य-प्राणी
भी नहीं करते प्रलय।

सेवा-सुरक्षा भी कहाँ
अन्ततः देतीं क्षति-गरल ?
उपकार निज उपकार का
भी पन्थ करता है सरल।

है प्रकृति चिर बलकारिणी,
यह जानते हैं सजग नर;
होकर प्रकृति से हीन तो
संभव नहीं जीवन-समर।

यह सत्य हैं हम जानते;
हैं प्रकृति-निर्भर प्राण भी;
चिर प्रकृति से पाता सतत
बल है स्वयं विज्ञान भी।

रहते प्रकृति में तत्त्व जो,
वे हैं हमारे तत्त्व भी;
प्राकृतिक सुषमा क्या नहीं
रखती अपार महत्त्व भी ?

मैं देखता, सर्वत्र ही
है प्रकृति छवि-धारा बही;
जो लिख रहा रूपान्तरण,
वह प्रकृति ही लिखवा रही।

चिन्ता नहीं है, विश्व कुल
है बुरा कहता या भला;
यह ज्ञात मुझको, सत्य में ही
मुख्यतः रहती कला।

मिथ्या कहूँ क्यों जगत् को ?
जब सत्य ही आधार है;
है सत्यरूपा प्रकृति भी;
इसका यही तो सार है।

जग ब्रह्म कहता है जिसे,
सर्वत्र उसकी व्याप्ति है;
चिर सर्वसमता-प्रगति में
ब्रह्मत्व की सम्प्राप्ति है।

यह दृष्टि अन्तर्दृष्टि है;
चिर सत्य है रूपान्तरण;
यह दलबदल तो है नहीं;
ज्यों राजनैतिक हैं चरण।

इससे समन्वय में सदा
मनुजत्वमय है आचरण;
इसमें निहित जीवन अभय;
पार्थक्य में रहता मरण।

अष्टम सर्ग

नवाध्यात्म

जीर्णता क्या अमर शाश्वत तत्त्व है ?
स्थान पाती ही रहेगी नव्यता;
प्रगति की धारा बहेगी अनवरत;
सृष्टि की बढ़ती रहेगी भव्यता।

सृष्टि का ही तत्त्व है अध्यात्म भी;
शून्यता से है कभी टपका नहीं;
हैं जहाँ अक्षुण्ण मानव-मूल्य चिर,
है सदा अध्यात्म भी रहता वहीं।

पूर्णतः अध्यात्म है दिनमानवत्,
तिमिर पर आलोक लाने के लिए;
प्रेरणा-संचेतना की वस्तु वह,
मृत्यु में जीवन जगाने के लिए।

कर्म नैतिक में निहित मनुजत्व है;
रक्षणीया सतत नैतिकता रहे;
क्यों कहीं टकराव या बिखराव हो?
विष नहीं हो, अमृत की धारा बहे।

गरल में है मृत्यु, जीवन है अमृत;
यह अमृत सबको पिलाना चाहिए;
रोग देना है कभी अध्यात्म क्या?
स्वास्थ्य का अध्यात्म लाना चाहिए।

रूढ़ि-आडम्बर नहीं अध्यात्म है;
सरलता में ही निहित यह तत्त्व है;
है कहाँ अध्यात्म नैतिक पतन में?
देह में रहता नहीं अमरत्व है।

पूर्व में अध्यात्म-तरु वन में उगा,
ग्राम-नगरों को वहाँ से ही मिला;
हो गईं शाखा-प्रशाखाएँ अखिल;
मूल कुछ आडम्बरों से था हिला।

बीज को मानव कहाँ है देखता?
देख पाता मात्र वाह्य स्वरूप को;
जल जभी मिलने लगा नलकूप से,
भूलने-सा लग गया वह कूप को।

विपिन कटने से हुए जब कम बहुत,
लघु विपिन क्रमशः लगाना ही पड़ा;
बृहत् तो वन-जन्तुओं के हित रहे;
लघु वनों से तोष पाना ही पड़ा।

ग्राम-नगरों में रहे अध्यात्म भी;
कुछ नहीं अध्यात्म से वंचित रहे;
चाहिए आलोक ज्यों सर्वत्र ही,
गगन में ही वह नहीं सीमित रहे।

सभ्यता के संग हो अध्यात्म भी;
मनुज-संस्कृति का यही आधार है;
है कभी अध्यात्म विश्वेतर नहीं;
मनुजता में निहित उसका सार है।

ब्रह्म है सर्वत्र तो क्यों भेद हो?
क्या नहीं हो पूर्ण मानव-एकता?
मूल्य नैतिक मूलतः अध्यात्म हैं,
हो मनुष्यों में सदैव मनुष्यता।

मूलतः अध्यात्म-तन के प्राण हैं—
कह गये स्वामी विवेकानन्द जो;
जो अहिंसा-सत्य बापू ने कहा;
न्याय-समता एकता के छन्द जो।

प्राण ही यदि हों नहीं तो तत्त्व क्या?
प्राण-वंचित देह की रक्षा कहाँ?
अतः करते भस्म अथवा गाड़ते;
तत्त्व जाते हैं उन्हें जाना जहाँ।

लोक-जीवन के लिए धन चाहिए;
पर किसी के पास क्यों अतिशय रहे?
क्यों कहीं प्यासे मरें जल के बिना?
क्यों कहीं बेरोक जलधारा बहे?

अधिक दुख रहता नहीं क्या है वहाँ—
संतुलित होता नहीं है धन जहाँ?
वित्त अतिशय व्यक्ति के हो पास क्यों?
विषमता में है कभी जीवन कहाँ?

चाहिए अध्यात्म जीवन-भूमि पर;
वह नहीं रहता कभी है गगन में;
प्रकृति में, उद्योग में भी वह रहे;
कर्मगत भी हो, न केवल वचन में।

राजनैतिक, प्राकृतिक, आर्थिक, विविध
क्षेत्र यदि अध्यात्म के होंगे नहीं—
तो कभी होगा अखण्डित लक्ष्य क्या?
सर्वदा खण्डित मिलेगा सब कहीं।

एक दिन होगा मनुज को ज्ञान यह;
लिख रहा कवि, सत्य-लेखन धर्म है;
काव्य में हों कान्तदर्शी तत्त्व भी;
सर्वदा साहित्य का यह मर्म है।

प्रथम कवि ही तो श्रवण करते उसे
जो पगध्वनि हो भविष्यत् से चली;
ध्वनि मिले तो पग चले आते कभी;
गूँजती प्रत्येक आगत की गली।

स्वप्न भी आधार से वंचित कहाँ?
निहित रहता कुछ-न-कुछ आधार है;
स्वप्न से ही प्रगति पाता है जगत्;
कल्पनामय कर्म से संसार है।

कल्पना भी हो वही जो दे प्रगति;
क्या कभी प्रतिगामिनी हो कल्पना?
भावना भी सर्वजन-समहित करे;
सर्वजन-उत्थान की हो कामना।

सन्निहित अध्यात्म यह साहित्य में–
यदि रहे तो अमृतमय वाङ्मय बने;
लोभ से उन्मुक्त यदि लेखक बने,
सर्वतंत्र-स्वतंत्र हो निर्भय बने।

चाहिए निर्भीक लेखन मनुज का;
व्यावसायिक वृत्ति में है भय निहित;
सतत सेवामय रहे यदि शुद्ध हो;
सत्य-शिव-सौन्दर्यमय है संविदित।

लिख रहा कवि मात्र लेखन के लिए;
लिख न दे तो लेखनी सार्थक नहीं;
जो रहे चिन्तन वही जीवन रहे;
सत्य का अस्तित्व रहता है वहीं।

मन-वचन हों कर्म से सबलित सदा;
सबल होता है तभी व्यक्तित्व भी;
अन्यथा यदि हो, कहाँ है बल सुलभ?
है निरर्थक व्यक्ति का अस्तित्व भी।

क्या भला व्यवसायियों की है कमी ?
व्याप्त जब सर्वत्र है व्यवसाय ही;
निकल सकता है नहीं क्या गर्त्त से ?
क्या रहेगा नर सदा निरुपाय ही ?

यों कभी व्यवसाय क्या हो पतित ही ?
तत्त्व उसमें क्या नहीं नैतिक रहे ?
क्या नहीं अध्यात्म की हो शुद्धता ?
वंचनामय तत्त्व क्या भौतिक रहे ?

पूर्ण व्यापक क्या नहीं अध्यात्म हो ?
एक दिन होना पड़ेगा व्याप्तिमय;
भावना में क्या नहीं सेवा रहे ?
भाव क्या हो मात्र आर्थिक प्राप्तिमय ?

मात्र आर्थिक लाभ की हो दृष्टि क्या ?
क्या नहीं साहित्य दे सद्भावना ?
स्वार्थ की ही दृष्टि में साहित्य क्या ?
क्या नहीं सेवामयी हो कामना ?

यह पराकाष्ठा पतन की हो चुकी;
कई शतियों में निहित उत्थान है;
अब नहीं पशुता रहेगी विजयिनी;
ध्रुव मनुजता की विजय का गान है।

व्याप्त होगा अब नया अध्यात्म ही;
लौट पायेगा नहीं यह पतन-क्रम;
न्याय-समता का चलेगा दौर जब,
पूर्ण सम्मानित रहेंगे बुद्धि-श्रम।

मान्य श्रम की ही रहेंगी शक्तियाँ;
पूज्य होगा पूर्णतः आचार ही;
अतः उनकी ही बढ़े चिर कामना;
दृढ़ रहेगा सत्यमय आधार ही।

यह नहीं है मात्र कोरी कल्पना;
पूर्णतः इतिहास होगा सत्य यह;
सत्य की वाणी रहेगी विजयिनी;
पूर्ण मानवता करेगा रूप वह।

कर्म हो यदि योगमय तो क्या नहीं—
अनवरत अध्यात्म साधित हो रहा ?
और हों यदि सतत जन-कल्याणमय;
है कहाँ अध्यात्म बाधित हो रहा ?

सतत बढ़ती जा रही यह चेतना;
है सदा चैतन्य यह सुविकासमय;
हृदय-मन्दिर का जलेगा दीप यदि,
क्या न होगा सदन ज्ञान-प्रकाशमय ?

नियति पर है रुक रहा मानव-रुदन;
बढ़ रहा शुचि कर्म का मधुहास है;
काल्पनिकता-मुक्त होकर मनुज-मन
पा रहा अब वास्तविक विश्वास है।

गुल्म को चढ़ना स्वयं है उच्चतर;
क्या न जायेगा सतत चढ़ता हुआ?
है लता तरु को विजित करती स्वतः;
वेग चलता अनवरत बढ़ता हुआ।

नियति नामक वस्तु है स्थायी नहीं,
धारणा है मिट रही संयोग की;
रोग बढ़ने में नियति का दोष क्या ?
है उपेक्षा वृद्धि करती रोग की।

हो जहाँ अध्यात्म, क्यों हों रूढ़ियाँ ?
वास्तविक अध्यात्म उनसे मुक्त है;
छद्म होता रूप है आडम्बरी;
वास्तविक अध्यात्म जन-संयुक्त है।

दीन यदि जनगण रहें, अध्यात्म क्या ?
है नहीं शोषण-समर्थन में निहित;
न्याय-समता का समर्थन वह करे;
क्या नहीं वैषम्य ही होगा विजित ?

नियति पर संचेतना है विजयिनी;
विषमता-शोषण नहीं शाश्वत नियति;
मुक्त होंगे तत्त्व लोकाध्यात्म के;
इस नये अध्यात्म की होगी प्रगति।

कर्मयोगी हो भले निष्क्रिय कभी;
न्याय-जनहित का नहीं पथ छोड़ता;
सत्य का साधक रहेगा वह सदा,
है नहीं सत्पन्थ से मुँह मोड़ता।

योग का भी लक्ष्य क्या जड़ भोग हो ?
क्या भला वैराग्य में भी राग हो ?
जो अमृत-अवदान का दावा करे,
वह स्वयं क्या क्रूर विषधर नाग हो ?

लक्ष्य तो हो भोग का भी योग ही;
भोग क्या वांछित कदापि असन्तुलित ?
चेतना यह लोक में है आ रही;
क्या सदा जनगण रहेंगे दिग्भ्रमित ?

एक नर की हो भले चिर वंचना,
कुछ समय तक अधिक जन जायें छले;
किन्तु छलना कब चली सब पर सदा ?
छाछ फूँकेगा कभी यदि मुँह जले।

दौर जो पीछे गया है छूट अब;
आ सकेगा वह नहीं फिर लौट कर;
अग्रगामी लक्ष्य होता मनुज का;
है नहीं निर्भर कभी गत स्वप्न पर।

काल-सीमित है कभी मानव नहीं;
चाहता है सतत सीमा-हीनता;
आ गया अध्यात्म नव तो विगत क्यों ?
मांगलिक पथ दे सदैव नवीनता।

मनुज का तो ध्येय चिर है मनुजता;
चिर वही तो सुदृढ़ शाश्वत तत्त्व है;
रूप ही तो बदलते हैं बाहरी;
तत्त्व में तो सन्निहित अमरत्व है।

लक्ष्य है अध्यात्म का पावन सदा;
था उसे कुछ ने अपावन कर दिया;
स्वार्थहित आडम्बरों को, छद्म को—
नाम में अध्यात्म के था भर दिया।

आ गया अध्यात्म नव चिर तत्त्वमय;
अब अखिल आडम्बरों का अन्त है;
किसलयों में प्राण नव लेकर यथा
विपिन में आता नवीन वसन्त है।

वह शिशिर-आघात से गिरता नहीं,
वह अमर है, अजर नवनिर्माणमय;
ग्रीष्म-ज्वाला से कभी घिरता नहीं;
लक्ष्य लेकर सर्वजन-कल्याणमय।

नवम सर्ग

नवजीवन-दर्शन

गतिमान जहाँ रहते अविरत
अणु-अणु, कण-कण, तृण-तृण, पल-क्षण;
गतिहीन कहाँ रह सकता है
जीवन अथवा उसका दर्शन ?

संस्कृति-सरिता है जहाँ वहाँ
जीवन-दर्शन की धारा है;
रहते स्थिर मानव-मूल्य सदा,
ज्यों अम्बर का ध्रुवतारा है।

परिवर्तित होता है युग तो
जीवन-दर्शन नवता पाता;
आन्तरिक तत्त्व हैं स्थिर होते;
पर वाह्याकार बदल जाता।

आकारों में जो तत्त्व निहित,
वे हैं ज्यों के त्यों रह जाते;
जैसे होता नव शिलान्यास
तो जीर्ण प्रथम हैं ढह जाते।

युग-युग से यह चलता है क्रम,
इसको चलते ही जाना है;
नवता का नव जीवन-यौवन
पाने से क्या घबड़ाना है?

ज्यों शून्य गगन के रंग-ढंग
भी होते रहते परिवर्तित;
जीवन तो है गतिमान सतत;
इस गति से वह रहता जीवित।

शास्वत है दर्शन-तत्त्व, किन्तु
आता नवीन नवयुग-दर्शन;
पाता समाज है नया रूप,
तोड़ता रूढ़ियों के बन्धन।

समता के तत्त्व पुरातन हैं;
मिट पाती नहीं विषमता है;
थी कभी प्राप्त भारत को वह,
जो अभिहित मानव-समता है।

धुल जाते वर्षा से भू-नभ;
पर आती पुनः मलिनता है;
जो पर्वत रजताभा रखते;
आती उनपर धूमिलता है।

भू से उड़ते रहते रजकण,
भूस्खलन अद्रि भी पाते हैं;
पवमान और चिर समयचक्र
स्वच्छता-प्रदूषण लाते हैं।

पल्लव आवृत हो जाते ज्यों,
लतिका उनपर जब छाती है,
वह लतिका भी तो नव ऋतु में
सुषमा नवीन कुछ पाती है।

तरु—शाखा पाकर शिशिर-वायु
निज पर्ण-वितान हटाती है;
करती मुख-छवि का अनावरण;
मधु से होती मधुमाती है।

अथवा वसन्त के स्वागत में
वह निरावरण हो जाती है;
जैसे राका की चन्द्रकला
निज अभिनव कला दिखाती है।

जड़ता से, रूढ़िवादिता से
जब जीवन-दर्शन बँध जाता;
तब नवयुग को देने जीवन
नव जीवन-दर्शन है आता।

ज्यों शरत्पूर्णिमा को मयंक
अभिनव चन्द्रिका सजाता है;
वर्षाधारा को कर समाप्त,
अपनी रसधार लुटाता है।

नवजीवन - दर्शन - लेखन में
लेखनी नृत्य करने लगती;
उत्साह-स्फूर्ति-उल्लास नया
क्रमशः मन में भरने लगती।

मानव की जीर्ण शिराओं में
आती नव प्राण-रुधिर-धारा;
आती है नव्य चेतना तो
करती समाप्त जड़ता-कारा।

उठती है जभी यवनिका, वह
कुछ अभिनव दृश्य दिखाती है;
छविमय अथवा अन्यथा रूप—
से अभिनव छटा सजाती है।

पल्लव आवृत हो जाते ज्यों,
लतिका उनपर जब छाती है,
वह लतिका भी तो नव ऋतु में
सुषमा नवीन कुछ पाती है।

तरु—शाखा पाकर शिशिर-वायु
निज पर्ण-वितान हटाती है;
करती मुख-छवि का अनावरण;
मधु से होती मधुमाती है।

अथवा वसन्त के स्वागत में
वह निरावरण हो जाती है;
जैसे राका की चन्द्रकला
निज अभिनव कला दिखाती है।

जड़ता से, रूढ़िवादिता से
जब जीवन-दर्शन बँध जाता;
तब नवयुग को देने जीवन
नव जीवन-दर्शन है आता।

ज्यों शरत्पूर्णिमा को मयंक
अभिनव चन्द्रिका सजाता है;
वर्षाधारा को कर समाप्त,
अपनी रसधार लुटाता है।

नवजीवन - दर्शन - लेखन में
लेखनी नृत्य करने लगती;
उत्साह-स्फूर्ति-उल्लास नया
क्रमशः मन में भरने लगती।

मानव की जीर्ण शिराओं में
आती नव प्राण-रुधिर-धारा;
आती है नव्य चेतना तो
करती समाप्त जड़ता-कारा।

उठती है जभी यवनिका, वह
कुछ अभिनव दृश्य दिखाती है;
छविमय अथवा अन्यथा रूप—
से अभिनव छटा सजाती है।

वर-वधू प्रथम मिलने पर ज्यों
कुछ मौन-चकित रह जाते हैं;
त्यों नवजीवन-दर्शन आता
तो शंका से अपनाते हैं।

क्रमशः हैं लाभ देखते तो
अनिवार्य उसे सब कहते हैं;
जैसे तिनकों में गति आती,
जब वे प्रवाह में बहते हैं।

जैसे निदाघ में उष्ण वस्त्र
हो सकते हैं अनुकूल नहीं,
ज्यों शीत वस्त्र भी शीतल ऋतु
में होते क्या प्रतिकूल नहीं?

नवयुग में नवजीवन-दर्शन
त्यों ही आवश्यक होता है;
वह नर क्या सम्यक् होगा जो
प्रत्यूष-काल में सोता है?

जो दे न सके फल-सुमन कभी,
तो भी नव तरु वरदानी है;
कुल विश्व-प्राणियों में तरुवर
चिर अनुपम -अद्भुत प्राणी है।

कुल हरीतिमा को कवि अर्पित
करता है नमन सदा सादर;
है विरल प्राणवत्ता उसमें;
जग कहता उसको भले अचर।

त्यों ही नव जीवन-दर्शन का
कवि करता चिर अभिनन्दन है;
उसको तो आना है अवश्य,
ज्यों आता आगामी क्षण है।

वह आता तो आते ही वह
नूतन आलोक जगाता है;
निज हास और मुस्कानों से
क्रन्दनमय तिमिर भगाता है।

गत जीवन-दर्शन पर लाता
नवजीवन-दर्शन छवि न्यारी;
जैसे हो जीर्ण वाटिका को
देता चिर नूतन फुलवारी।

चिर पुराचीन दर्शन का है
नव जीवन-दर्शन अभिनव स्वर;
जो गागर जीर्ण पुरातन है,
उसमें देता है नव रस भर।

कहने लगते हैं मनुज सभी,
समता का दृश्य निराला है;
नवजीवन-दर्शन समता का
मधु अमृत पिलाने वाला है।

क्रमशः वीभत्स विषमता पर
समता की सुछवि दिखाता है;
जड़ भेदभाव पर भेदहीनता
की सुगन्ध फैलाता है।

संचय के लिए नहीं धन है;
उपयोग हेतु ही होता है;
उसका भी जीवन क्या जीवन
कंचन- धन पर सोता है?

कंचन क्या खा सकता मानव?
क्या हीरा-मोती खायेगा?
भोजन अनाज, परिधान वस्त्र,
श्रम-मूल्य उचित नर पायेगा।

नर-नारी होते हैं समान;
नारी का बढ़कर ही महत्त्व;
क्रमशः समाज है समझ रहा;
है मूल्यवान् वात्सल्य-तत्त्व।

समतामय धन है अधिक सुखद;
क्या शोषण से सुख होता है?
धनसमता का जीवन-दर्शन
कुल क्षेत्रों में नर बोता है।

क्रमशः सह जीवन का महत्त्व
पूर्वाधिक समझ रहा मानव;
हम जियें और जीने भी दें;
इसमें ही तो रहता गौरव।

मानव-समता अनिवार्य तत्त्व
है, इसका भी बढ़ रहा बोध;
इसमें क्यों कुछ अवरोध रहे;
सारे मानव हों निर्विरोध।

मानव के जीवन-दर्शन में
क्यों हो विरोध या वैरभाव?
नर प्रेम-तत्त्व को रहा समझ;
है मिटा रहा सारा दुराव।

क्यों हो समाज में जड़ तनाव?
उसको समाप्त करता जाता;
जो व्रण थे हुए तनावों से,
उनको क्रमशः भरता जाता।

क्यों गोपनीयता रहे? और
कोई भी क्यों अवगुण्ठन हो?
उन्मुक्त भाव से रहते सब;
अब क्यों पशुतामय बन्धन हो?

इस जीवन-दर्शन की धारा
क्रमशः बढ़ती जाती आगे;
चाँदनी प्रेम की छिटक रही;
जुड़ रहे प्रेम के कुल धागे।

है घुटन नहीं तो टूटन क्या?
क्यों कुण्ठा या संत्रास रहे?
सब हँस पायें ज्यों पूर्ण चन्द्र,
उत्साह और उल्लास रहे।

इस जीवन-दर्शन की सुषमा
क्रमशः बढ़ती ही जाती है;
ज्यों प्रीति-पाश में बँध नरता
उल्लास अधिक चिर पाती है।

ज्यों युगल-प्रेम का बाहुपाश
चिर मुक्तिबोध ही देता है;
क्यों क्रौंच-युगल पर चले वाण ?
वह जग से क्या कुछ लेता है ?

अति उच्च रहे जीवन-दर्शन
तो नर-विहंग उड़ पायेंगे;
चिर शान्ति-प्रीति-सहयोग -शक्ति
के मधुर गीत वे गायेंगे।

क्यों हो सामाजिक रुदन कहीं ?
है नहीं व्यक्ति में भी वांछित;
हँसते-गाते ही रहें मनुज,
जीवन-सुविधा पाकर समुचित।

इस नव जीवन-दर्शन की छवि
आनन्द बढ़ाने वाली है;
भीषण वैषम्य-विषादों की
अब मरी हुई-सी व्याली है।

जैसे अम्बर की चन्द्रमुखी—
छवि राका में पूरी होती;
जैसे सीपी को स्वाती का
ही जल, कहते, देता मोती;

वैसे यह नव जीवन-दर्शन
शाश्वत आनन्द-प्रदायक है;
यह नहीं किसी भी मानव के
हित हो सकता दुख-दायक है।

ज्यों अखिल वाटिका फलती है
तो कोयल कूक बढ़ाती है;
इस फल-समता से वसुन्धरा
माधुरी और भी पाती है।

माधुरी चाहता है मानव;
वह कभी चाहता व्यथा नहीं;
कोई अभाव से ग्रस्त न हो,
आनन्द अधिक है सुलभ वहीं।

रूढ़ियों और जड़ताओं से
सुख नहीं सदा मिल सकता है;
क्या कुरीतियों के कर्दम से
स्वच्छता-सुमन खिल सकता है ?

विज्ञान बढ़ रहा है क्रमशः,
बढ़ता जाता है तर्क-सुमन;
तब कहाँ शूल रह सकता है,
जो बढ़ा रूढ़ियों के कारण ?

भावना-बुद्धि का शुभ संगम
करता विशुद्ध मानव-चिन्तन;
जो सदा भग्न करता रहता
सारी जड़ताओं के बन्धन।

भावना रहे सद्भावमयी,
दोनों का हो मंगल-परिणय;
सन्तति भी मंगलमयी रहे;
क्यों रहे अन्धविश्वास-निलय ?

जीवन-दर्शन है तर्कपूर्ण;
है दर्शन का आधार तर्क;
जब यह जीवन-दर्शन रहता,
मानव रह पाता है सतर्क।

क्यों भला कभी हों नयन अरुण ?
चिर हो अरुणिमा कपोलों पर;
सबके यदि रह पाती है तो
सम सुख पाते हैं नारी-नर।

मन में हरीतिमा हो सबके,
पायें सब सम आनन्द-छन्द;
सुरभित करता ही रहे सदा
सबके जीवन को मधु मरन्द।

उड्डीयमान हों समता से
उन्नति-नभ में मानव-विहंग;
सबको आह्लादित करे सतत
समता-वसन्त का सुखद रंग।

जड़ता का करता पटाक्षेप
नव जीवन-दर्शन चलता है,
तमतोम नहीं रह पाता जब
प्रज्ञा–प्रदीप शुभ जलता है।

जीवन - सुषमा – सुन्दरी सभी
के हित मधु-कलश लिये आई;
सम जीवन-सुधा सभी पाते,
सब में जाग्रत है तरुणाई।

दशम सर्ग

नव समाज

श्वासों में ज्यों अस्तित्व-बोध
त्यों नवता में जीवन रहता;
निर्झर प्रवाह में ही जीवित;
वह नहीं निरर्थक है बहता।

जब जरा मनुज की आती है,
वह भी कुछ नवता लाती है;
अभिनव विचार-भावों से वह
नवजीवन-ज्योति जगाती है।

आकृति से आगे बढ़कर कृति
अभिनव तारुण्य दिखाती है;
लाती चेतना नई नव कृति;
नवता से जीवन पाती है।

केवल चन्द्रिका नहीं, किरणें
भी नव सौन्दर्य सजाती हैं;
जागरण-शक्ति से प्राण-शक्ति
में नव गतिमयता लाती हैं।

चलता रहता है रजनी में भी
नव चिन्तन-लेखन का क्रम;
चलते रहते संयंत्र और
कर्मी करते रहते हैं श्रम।

सबमें नवता रहती अवश्य;
चलता रहता नव उत्पादन;
दैनिक पत्रों के पत्रकार
करते हैं नव संवाद-चयन।

चलता आवश्यक नवलेखन;
विरचित होते हैं नव विधान;
नव कृतियाँ देती रहती हैं
कृतिकारों का जीवन-प्रमाण।

पाती है केवल प्रकृति नहीं,
अथवा दिखलाती अभिनवता;
संस्कृति भी है गतिमयी सतत;
गति में रखती है उज्ज्वलता।

केवल भूकम्प नहीं, रजकण
भी अभिनव कम्पन लाता है;
कुछ नवीनता आती ही है
कोई कोकिल जब गाता है।

कितना भी लघु या रहे जीर्ण,
निज प्रभा नई देता प्रदीप;
रहता ही है जीवन सदैव
व्यापक अभिनवता के समीप।

यों ही समाज भी सदा नहीं
रह सकता रूढ़िग्रस्त, निश्चल;
चाहिए इसे भी तो पाना
उज्ज्वल अभिनवता का सम्बल।

हो गई जाति-समता क्रमशः,
फिर सम्प्रदाय-समता होगी;
भारत-समाज क्या रह सकता
सर्वदा मलिन, खण्डित, रोगी?

सम्यक् हों यदि औषधि-संयम,
रुज पर आरोग्य बढ़ेगा ही;
त्यों नवीनता का तरु बढ़कर
क्रमशः परवान चढ़ेगा ही।

तारुण्य निहित रहता जिसमें
वह लेता ही है अँगड़ाई;
क्या कभी क्रूरता-दमन घोर
सहती समाज की तरुणाई?

नर-नारी की समता भी तो
क्या है कदापि रुकनेवाली?
बढ़ती ही जायेगी अवश्य,
जैसे प्रभात की उजियाली।

भारत ने पूज्या कहा जिसे;
वह अनाचार क्या सह सकती?
नर-नारी के जड़ भेदभाव
से ग्रस्त नहीं अब रह सकती।

जाग्रत हो नव महिला-समाज
तो उसको कौन दबा सकता?
क्या वधू-दाह, कन्या-हत्या
से मुक्ति नहीं वह पा सकता?

होता नृशंस है भीषणतम
करवाना कोई गर्भपात;
गर्भस्थ रहे यदि पुत्री तो
करवाना क्या उसको समाप्त?

यदि मृत पति का हो दाहकर्म,
क्या जीवित पत्नी संग जले ?
अथवा विधवा रह आजीवन
कुण्ठा-पीड़ा में सड़े-गले ?

यदि विधुर विवाह रचाता नव,
तो विधवा क्यों आजीवन हो ?
उसपर क्यों एकाकीपन की
पीड़ा का निष्ठुर बन्धन हो ?

क्रमशः चेतना बढ़ रही जो,
क्रमशः बढ़ती ही जायेगी;
महिला भी पुरुषों के समान
अधिकार प्राणमय पायेगी।

इस भाँति सबल होगा समाज,
गति स्वाभाविक वह पायेगा;
समता का जलता हुआ दीप
क्रमशः आलोक बढ़ायेगा।

आर्थिक—सामाजिक मात्र नहीं;
समता सम्पूर्ण, सर्व-व्यापक
भव को सिखलायेगा भारत;
जो पुराचीनतम संस्थापक।

नर के हित ही क्या रहे न्याय ?
क्या नारी को हो प्राप्त नहीं ?
यदि प्राप्त नहीं उसको होगा,
क्या होगा राष्ट्र समाप्त नहीं ?

भारत है समझ रहा, नारी
को भी सामाजिक न्याय मिले;
क्यों गड़ी कीच में रह जाये ?
उसका भी जीवन-कमल खिले।

वह नहीं गौण रहने वाली,
समुचित प्रधानता पाती है;
नारी नर पर निर्भरा नहीं;
निज पर निर्भरता लाती है।

आरोग्य–वंचिता यदि रहती
तो उसका है सौन्दर्य दमित;
सम्यक् पोषण से, शिक्षण से,
करती महत्त्व निज है विकसित।

देहिक विकास ही नहीं, उसे
सर्वांग विकास अपेक्षित है;
निज उपयोगिता सभी क्षेत्रों
में करती वह संस्थापित है।

वह 'वज्रादपि कठोर' भी है;
है नहीं मात्र शीतल-कोमल;
कुसुमादपि मृदु भी है अवश्य;
जीवन-मधुवन की छवि शाद्वल।

भावी समाज की निर्मात्री,
पालिका, शिक्षिका है नारी;
रहती शुभ सृष्टिमयी है, पर
कर सकती रण-ताण्डव भारी।

अब नव समाज में भारत के
सम्पूर्ण चेतना आई है;
नारियों–बालिकाओं ने भी
निज सम्यक् महिमा पाई है।

मण्डित लगता भारत-समाज
अब सत्यं-शिवं-सुन्दरम् से;
जो सहस्राब्दियों ग्रस्त रहा
दासत्व-श्रृंखला के क्रम से।

है सत्यं - शिवं - सुन्दरम् की
जननी नारी कल्याणमयी,
यदि हो सुपोषिता, सम्पन्ना,
उच्चतम सुशिक्षा-ज्ञानमयी।

वह ज्योतिर्मयी विभागृह की;
चालिका प्रगतिमय वाहन की;
है कर्म-क्षेत्र की शक्ति प्रबल;
प्रेरिका राष्ट्र के यौवन की।

मातृत्व करे कोई समाप्त,
यह कितनी अमानुषिकता है?
कर सके नहीं आनन्द प्राप्त,
कैसी यह वैज्ञानिकता है?

परिवार-नियोजन हो अवश्य
पर अमानुषिकता यह क्यों हों?
करती समाज का भार वहन;
उसका जीवन दुर्वह क्यों हो?

वह संवर्धिनी सदा बनती
कृषि–औद्योगिक उत्पादन की,
तरुणी बन सुन्दरता बनती
जगती के निखिल प्रसाधन की।

नारी - नर - समता - स्वतंत्रता
जीवन की शक्ति बढ़ायेगी;
होंगे नवजीवन-तत्त्व जहाँ,
जाकर अवश्य यह लायेगी।

श्रम को मिलता सम्मान्य मूल्य
तो नवसमाज आता ही है;
यदि वन-भोजन उन्मुक्त मिले
तो वन-पंछी गाता ही है।

जिस भाँति बढ़ रहा नव समाज
भारत के व्यापक प्रांगण में;
दे रहे पूर्ण श्रम कृषक-श्रमिक;
क्या अन्तर मिट्टी–कंचन में?

मृत्तिका स्वर्ण की जननी है;
वह बन्ध्या कभी नहीं होती;
समुचित श्रम के अभाव में ही
वह मरु बनती, रहती रोती।

श्रम के अभाव में सरिताएँ
अपना प्रवाह खो देती हैं;
जब श्रमिक भगीरथ बन जाता
तो वे नवजीवन लेती हैं।

यह चेतनता लेकर समाज
क्रमशः अभिनवता पाता है;
वह जीर्ण–पुरातन अम्बर से
ज्योत्स्ना नवीनतम लाता है।

जन-जन की सुविधा-समानता
देती समाज को अभिनव छवि;
जैसे देता नव रश्मि-विभा
आकर प्रतिदिन प्रभात में रवि।

कण-कण का सम्यक् नव विकास
समता-समाज नव देता है;
इस नव समाज का अरुणोदय
जीर्णता-तिमिर हर लेता है।

वैषम्य-रहित, शोषण-विहीन,
बढ़ता है भारत वर्गहीन;
सबके सहयोगी जीवन से
बढ़ती रहती प्रतिभा नवीन।

मेधा नवीन, अभिनव चिन्तन
देते समाज को नूतनता;
जैसे अविरत संघर्षों से
मिल सकी राष्ट्र को स्वतंत्रता।

क्षमता क्रमशः बढ़ती जाती,
मेधा-प्रतिभा की वृद्धि सतत;
ये सब मिलकर लाते रहते
भारत में चिर अभिनव भारत।

औचित्यपूर्ण ही रहे सदा
जनता का आन्दोलक स्वभाव,
समुचित कम्पन ही लाता है
वसुधातल पर अपना प्रभाव।

वैसे बाधित हों जनता के
सम्यक्-समुचित अधिकार नहीं;
कोई पशु भी हो पाता है
निज तन पर अतुलित भार नहीं।

बँधुआ मजदूरी हटती है;
त्यों बाल श्रमिक की क्रूर प्रथा;
क्रमशः समाप्त होती जाती
नारी श्रमिकों की व्यथा-कथा।

पूर्णतः इन्हें मिटना ही है;
मिटने से बढ़ता नव समाज;
है अमानुषिकता मिट जाती
तो आता है सच्चा स्वराज।

सम्पूर्ण सुशिक्षा बने सुलभ;
प्रत्येक व्यक्ति सुनियोजित हो;
सब हों कर्मठ, कर्त्तव्य-निरत,
ऐसा समाज नव विकसित हो।

आता शोणित का नव प्रवाह
भारत की जीर्ण शिराओं में;
आते सम्यक् सुविवेक, न्याय
जन-जन की नव इच्छाओं में।

सम्यक् विद्यालय-ग्रन्थालय
सर्वत्र सुसंचालित होते;
करते समस्त जन सदुपयोग,
पल भर भी समय नहीं खोते।

है सदुपयोग के लिए समय;
वांछित क्या उसका दुरुपयोग ?
आवश्यक होते सदुद्देश्य;
कार्यान्वित होता कर्म-योग।

अपराध-कर्म करणीय नहीं;
क्रमशः भारत अपराध-मुक्त
होता है, होता जायेगा;
सत्कर्म सतत होंगे प्रयुक्त।

पूर्णतः रहे अपराध-मुक्त
अभिनव समाज भारतजन का;
चमकेगा सतत विश्व भर में
वैभव भारत के कण-कण का।

वैभव क्यों हो अपराध-जनक ?
अथवा क्यों रहे दुरभिलाषा ?
सम्यक् विकास पाती जाती
मानव-जीवन की परिभाषा।

हो सुनागरिकता का विकास
तो होंगे सम्यक् निर्वाचन;
सम्यक् निर्वाचन से अवश्य
विकसित होगा सम्यक् शासन।

मतदान रहेंगे पूर्ण अभय;
स्वच्छता-दक्षता आयेगी;
चिर स्वस्थ रहेगा लोकतंत्र;
सम्यक् सुख जनता पायेगी।

क्रमशः यह वातावरण सतत
अधिकाधिक बढ़ता जाता है;
अभिनव समाज कुल भारत का
सांस्कृतिक ज्योति नव पाता है।

एकादश सर्ग

नव विकास

आया भारत में पाने को गरिमा-महिमा विज्ञान अखिल;
भारत-संस्कृति से मण्डित हो, पाने को अविरल शान्ति-सलिल;
सुविधा के संग, कहा जाता, विज्ञान ला रहा है अशान्ति;
विज्ञान अशान्ति-जनक ही है, ऐसी क्यों नर में रहे भ्रान्ति ?

चिर शान्ति-अशान्ति निहित रहतीं केवल संयंत्र–प्रयोगों में;
क्या मरण सन्निहित ही रहता चिर यंत्रों के उपयोगों में ?
आवश्यक होता है विकास तो वैज्ञानिक भी होना है;
जो [illegible]परिणाम कभी मिलते तो उनको भी तो ढोना है।

अनुभव से त्रुटियों का सुधार क्रमशः करते ही जाना है;
विज्ञान अमृत जो लाया है, उसको अवश्य ही पाना है।
करते ही जाना है प्रयास, अभिनव विकास का रथ न रुके;
मानव के प्रगति-विधानों की अभियान–पताका नहीं झुके।

संस्कृति-विज्ञान समन्वित हों तो होता है सम्यक् विकास;
वरदान कहाँ कोई आता है अकस्मात् या अनायास?
भारत इन दोनों विभूतियों का रहा प्रथम अधिकारी है;
अवदानी भी यह रहा, नहीं शाश्वत विज्ञान-भिखारी है।

कर गये बोस जगदीशचन्द्र यह शाश्वत सत्य प्रमाणित हैं,
तरु भी होते निष्प्राण नहीं, वे विधिवत् प्राणी जीवित हैं।
अणु में भी लधु ब्रह्माण्ड-शक्ति रहती है, भाभा बता गये;
भारत करता ही जायेगा चिर वैज्ञानिक अभियान नये।

आयेंगे रामानुजम पुनः, नव आर्यभट्ट भी आयेगें;
नक्षत्रों का सम्पूर्ण ज्ञान भारत-भूतल पर लायेंगे।
विज्ञान रहे विकलांग नहीं, भारत भी क्यों विकलांग रहे?
व्याधियाँ अखिल मिटती जायें, सर्वत्र स्वास्थ्य की सुधा बहे।

जो किसी भाँति भारत में भी व्याधियाँ भयंकर आयेंगी
भारत-अभियानों से सत्वर पूर्णतः दूर हो जायेंगी।
लेकर सारी आरोग्य-शक्ति भारत बढ़ता ही जायेगा;
बन अभिनव वैज्ञानिक विस्मय वसुधा को मार्ग दिखायेगा।

केवल भविष्य की बात नहीं, यह वर्त्तमान में भी बढ़ता;
कर अन्तरिक्ष-यात्रा भी यह, क्रमशः ऊपर जाता चढ़ता।
यह उपग्रहों का निर्माता सर्वदा सफलता पाता है;
निज अनुपम आविष्कारों से मानव की शक्ति बढ़ाता है।

अणु-ऊर्जा भी है शान्ति हेतु; इसका है लक्ष्य विनाश नहीं;
वह रवि भी क्या रवि होता है, जो देता शान्ति-प्रकाश नहीं?
उच्चतम शक्ति वैज्ञानिक रख, भारत चिर शान्ति-निकेतन है;
देता चिर शान्ति विश्व को भी, देता सबको नव जीवन है।

भारत निज वैज्ञानिक क्षमता का ध्वज उन्नत लहरायेगा;
चिर औद्योगिक उत्पादन का निर्यातक विभव बढ़ायेगा।
आर्थिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक भी अनुपम आलोक जगायेगा;
इस पथ पर बढ़ता है भारत, खोया गौरव फिर पायेगा।

नव विकास-गीत

समस्त दीप जले रहे स्वतंत्रता– विकास के;
स्वदेश के विकास के, मनुष्यता-विकास के।
समस्त -----------------

कि जल रहे अखण्ड दीप हैं नये विकास के;
कि न्ष्ट हो रहे समग्र तत्त्व हैं विनाश के।

समस्त -----------------

चले मनुष्य हैं विकास की सुकल्पना लिये;
कि नव्य चेतना लिये, नवीन सर्जना लिये?
कि मुक्त द्वार हैं समस्त ज्ञान के प्रकाश के।
समस्त -----------------

कि नव विकास की ध्वजा अखिल समूह ले चला;
कि सीख ली स्वदेश ने विकास की अखिल कला।
कि गूँजने लगे सुछन्द मुक्त लोकहास के।
समस्त -----------------

सतत विकास के लिए मनुष्य हैं मचल रहे;
नगर-नगर, शिखर-शिखर विकास-दीप जल रहे।
समग्र भेदभाव से समस्त व्यक्ति मुक्त हैं;
रही कहीं न दीनता, सभी समृद्धियुक्त हैं।

कृषक चले, श्रमिक चले, चलीं समस्त नारियाँ;
कि बालवृद्ध हैं हँसा रहे समस्त क्यारियाँ।
सभी प्रबुद्ध-शुद्ध हैं, विमुक्त व्याधि-रोग से;
प्रगति सभी सजा रहे अखण्ड कर्मयोग से।

कि भारती विकास-मण्डिता बनी विभामयी;
विनश-त्रास-ह्रास पर विकास है सदा जयी।
कुभावना नहीं कहीं, सुव्याप्त है सुभावना;
कि शान्ति-प्रीतिपूर्ण है, सदैव है सुचेतना।

कि देशभक्त हैं सभी, सुदढ़ बनी अखण्डता;
अनेकता-प्रभाव पर अखण्ड राष्ट्र-एकता।
कि ज्योति सत्यमार्ग की असत्य को भगा रही;
अखण्ड ज्ञान-शक्ति आन्तरिक प्रभा जगा रही।

अभिनव-विकास -चेतना सतत
पाती जाती व्यापक प्रसार;
हैं भग्न हो रहे सारे के
सारे युग-युग अवरुद्ध द्वार।

ये द्वार अन्धविश्वासों के
कारण युग-युग हैं रहे रुद्ध;
चेतना-स्नात होती क्रमशः,
दिखती अब मानवता विशुद्ध।

सोचता नहीं अब है मानव,
जब इस जग से जाना होगा,
तो क्यों इसका हो परिष्कार ?
सम्भव क्या फल पाना होगा ?

जब तक रहना है जगती में,
मानव क्यों दूषण-पीड़त हो ?
क्यों रहे प्रदूषण-ग्रस्त कभी ?
वह क्यों विशुद्धि से वंचित हो ?

श्रम और चेतना-सम्बल के
बल से मनुष्य बढ़ते आगे;
क्रमशः बढ़ते, जोड़ते हुए
वे सदियों में टूटे धागे।

बिखरे-बिखरे क्यों रहें मनुज ?
एकत्व-शक्ति से चलना है;
चेतना-दीप जब है सक्रिय,
जड़ता-तमिस्र को जलना है।

रजताभ कहें या हीरकाभ,
आया तो है उज्ज्वल प्रकाश;
उज्ज्वलता से होना ही है
सम्पूर्ण मलिनता का विनाश।

मानवगण जब हैं जागरूक,
पशुता का तिमिर बचेगा क्या ?
आया कनकाभ प्रभात नवल,
कोई तम बाधा देगा क्या ?

शुभ सत्यं-शिवं-सुन्दरम् का
शाश्वत प्रकाश जो आया है,
कल्पनातीत-सा लगता है;
वह प्रभा अलौकिक लाया है।

हो गई असम्भव दुरभिसन्धि;
है युग समाप्त षड्यंत्रों का;
चिर शंखनादवत् है निनाद
एकत्व-प्रीति के मन्त्रों का।

●